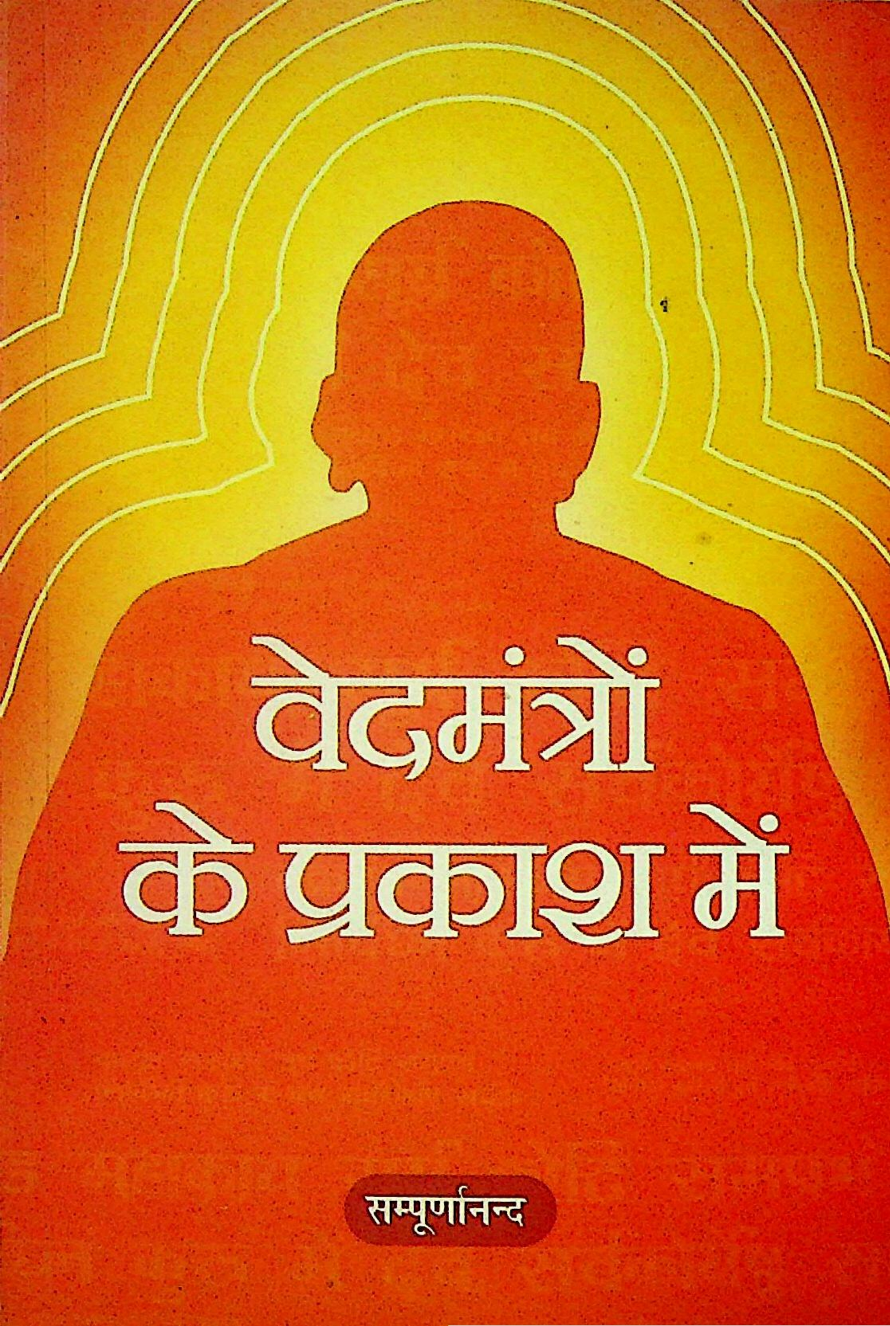


वेदमंत्रों के प्रकाश में

सम्पूर्णानन्द

वेदमंत्रों के प्रकाश में

(विचार-प्रेरक तथा जीवन-निर्माणकारी आख्यायिकाएं)

सम्पूर्णानन्द

सस्ता साहित्य मण्डल

2007

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

ISBN 978-81-7309-278-7

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल
एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001
फोन : 23310505, 41523565
शाखा : 126, जीरो रोड, इलाहाबाद-211003
फोन : 0532-2400034

●

संस्करण : 2007
प्रतियाँ : 1100
मूल्य : 45.00

●

लेजर कम्पोजिंग
सम्प्रेषण, आयानगर, नई दिल्ली

●

मुद्रक
बुकमैन प्रिंटर्स, दिल्ली-92. फोन : 32945590

प्रकाशकीय

प्राचीन कथाओं को आधुनिक शैली में प्रस्तुत करने का काम 'मण्डल' काफी समय से करता आ रहा है। उसने जातकों की चुनी हुई कथाओं के बालोपयोगी संग्रह निकाले हैं। एक संग्रह वैदिक कहानियों का निकाला है। ये तथा अन्य पुस्तकें पाठकों ने बहुत पसन्द की हैं।

हमें हर्ष है कि उसी शृंखला में एक और मूल्यवान कड़ी जुड़ रही है। जैसा कि विद्वान लेखक ने अपनी भूमिका में लिखा है, इस संग्रह की दो कथाओं को छोड़कर शेष वेद के मंत्रों पर आधारित हैं। ये सामान्य कथाएँ नहीं हैं। इनमें पर्याप्त विचार-सामग्री है और कोई-कोई कथा तो जीवन को नई दिशा में मोड़ने की क्षमता रखती है।

वेदों के मंत्रों में वर्णित प्रसंगों पर बहुत से लेखकों ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इन प्रसंगों का अन्त कहाँ है ! कितना भी लिखें, उनका भण्डार खाली नहीं होता। इन कथाओं का वास्तव में बड़ा मूल्य है, क्योंकि वे गहरी अनुभूतियों से जन्मी हैं और उनमें जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की अद्‍भुत शक्ति है।

इस संग्रह की कथाओं के रचयिता संस्कृत के विद्वान और हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक हैं। उनकी लेखनी बड़ी प्रभावशाली

है। इन कथाओं में प्राचीन वातावरण उपस्थित करने के लिए उन्होंने तदनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। सम्भव है, सामान्य पाठकों को भाषा कुछ क्लिष्ट लगे, लेकिन कथाओं का पूरा आनन्द बिना पुरातन वायुमण्डल के नहीं लिया जा सकता था।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संग्रह की सभी कथाएँ अत्यन्त रोचक हैं। साथ ही प्रेरणादायक भी। जो भी पाठक इन्हें पढ़ेंगे, लाभान्वित होंगे।

प्रत्येक कथा के आरम्भ में एक चित्र दे दिया गया है, जो उस कथा में वर्णित प्रसंग की झाँकी प्रस्तुत करता है।

—मंत्री

भूमिका

जो कहानियाँ इस संग्रह में सम्पुटित हैं, वे धारावाहिक रूप से 'धर्मयुग' में भी निकलती रही हैं। कई पाठकों ने इनके सम्बन्ध में पत्र भेजने की कृपा की। उन पत्रों से ज्ञात हुआ कि कहानियाँ लोगों को प्रायः पसन्द आईं। कुछ सज्जनों को आश्चर्य भी हुआ। यों तो मैं दीर्घकाल से कुछ-न-कुछ लिखता रहा हूँ, परन्तु मुझे कहानी-लेखक के रूप में कोई नहीं जानता। मुझे स्वयं इस बात में सन्देह है कि मुझमें कहानी लिखने की वास्तविक योग्यता है। जो हो, एक नया प्रयोग मैंने कर ही डाला। कदाचित यह दुःसाहस हुआ। परन्तु एक बार इस प्रकार का विचार मन में उठने पर मैं चित्त का संवरण न कर सका।

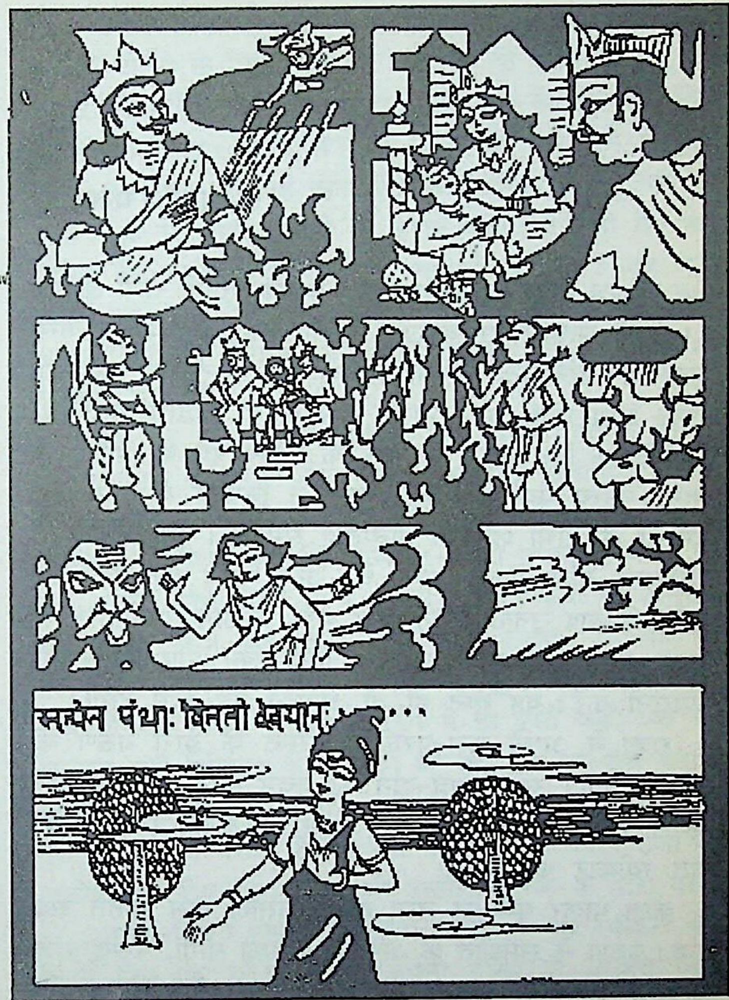
दो कहानियों को छोड़कर शेष का आधार वैदिक वाङ्मय है। मेरा विश्वास है कि वेदों में ऐसे और भी कई प्रसंग आए हैं, जो कथा-कहानी के रूप में लिखे जा सकते हैं। वे रोचक भी होंगे और शिक्षाप्रद भी। वेद हमारी संस्कृति का मूल है। वैदिक कथाओं को लोक के सामने लाना एक प्रकार का पवित्र कर्तव्य भी है। जो विचार, जो संस्कार, आज हमारे जीवन को प्रभावित कर रहे हैं, उनका आधार वेद में है और वह आधार बड़ा उदार है। अकेले महीदास की कथा इस बात का पर्याप्त प्रमाण है।

दो कहानियाँ कल्पित हैं। वेद से उन पर प्रकाश पड़ता है, परन्तु वे किन्हीं वैदिक आख्यानों पर आधारित नहीं हैं। उनका आधार यदि कुछ है तो मेरा ज्ञान या अज्ञान। एक में मृत्यु के उपरान्त की अनुभूति तथा शरीरोत्तर ग्रहण की चर्चा है और दूसरी में योगाभ्यासी के अनुभवों का रूपक के ब्याज से वर्णन। यह कहानी आज से लगभग २६ वर्ष पहले जेल में लिखी गई थी। मैं कहाँ तक इन विषयों पर कुछ लिखने की पात्रता रखता हूँ, इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उचित होगा। यदि मैं अनाधिकार चेष्टा का अपराधी हूँ तो क्षमा की ही आशा कर सकता हूँ।

राज भवन, जयपुर
७ फरवरी, १६६६

सम्पूर्णानन्द

अनुक्रम


सत्येन पंथा: विततो देवयान:...



१ सत्येन पन्था...

वेधा के पुत्र हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकु वंश में बड़े प्रतापी राजा हो गए हैं। आगे चलकर रामचन्द्रजी ने भी उन्हीं के वंश में जन्म लिया था। हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियाँ थीं, परन्तु पुत्र नहीं था। उनके साथ पर्वत और नारद नाम के दो विद्वान रहते थे। उन्होंने एक दिन नारद से पूछा कि मनुष्य पुत्र की प्राप्ति को इतना महत्त्व क्यों देता है? नारद ने विस्तार के साथ इस सम्बन्ध की सभी शास्त्रीय मान्यताएँ समझाईं। पुत्र न होने से हरिश्चन्द्र योंही खिन्न रहते थे। अब नारद की बातों को सुनने के बाद उनका उद्वेग और बढ़ा। उन्होंने पुत्र-प्राप्ति का उपाय पूछा। नारद ने परामर्श दिया कि आप वरुण की उपासना करें। वह तुष्ट हों तो आपको पुत्र-लाभ होगा।

राजा ने अपने कुल-पुरोहित वसिष्ठ के द्वारा वरुण को प्रसन्न किया। उन्होंने पुत्र-दान का वचन दिया, पर यह कहा कि मैं जन्म के बाद ही लड़का वापस ले लूँगा। राजा ने यह बात स्वीकार कर ली।

काल पाकर पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम रोहित रखा गया। वरुण ने समझौते के अनुसार लड़का माँगा, परन्तु राजा के लिए यह काम सुकर नहीं था। पुत्र का मुँह देखना और

फिर उसे तत्काल काल को सौंप देना हँसी-खेल नहीं है। उन्होंने टालने के लिए कहा कि दस दिन के पहले तो पशु का बच्चा भी बलि नहीं दिया जाता। इसे कम-से-कम दस दिन का होने दीजिए। वरुण ने मान लिया। वे दस दिन भी पूरे हुए। अब राजा ने यह कहा कि बिना दांत के पशु की भी बलि नहीं दी जाती। अभी तो इसके दांत भी नहीं हैं। यह अभेद्य है। वरुण दांत निकलने तक भी चुप रहे। जब दांत निकले तो राजा ने कहा कि इन दांतों के गिर जाने पर इसके असली दांत तो निकल आने दीजिए। वरुण ने यह बात भी स्वीकार कर ली।

राजा का इस प्रकार एक के बाद दूसरा बहाना करना अस्वाभाविक बात नहीं थी। सन्तान का मोह सबको होता है। जब उन्होंने वरुण से अनुबंध किया, तब भी अपने मन में शायद यही सोचा होगा कि किसी-न-किसी उपाय से बच्चे को बचा लूँगा। ऐसी इच्छा होना सर्वथा मानव-प्रकृति के अनुरूप था, परन्तु क्षात्र धर्म के विपरीत था। सन्तान के मोह में हरिश्चन्द्र अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य से च्युत होते जा रहे थे। सच तो यह है कि उनको आरम्भ में ही ऐसी कड़ी शर्त पर सन्तान नहीं स्वीकार करनी थी। जो हो, एक-पर-एक बहाना होता गया। मुण्डन हुआ, यज्ञोपवीत हुआ तथा विद्यारम्भ हुआ। अन्त में वरुण के धैर्य का भी अन्त हो गया। राजा को जलोदर का रोग हुआ। फिर भी उन्होंने वसिष्ठ के द्वारा वरुण से अनुनय-विनय किया। अन्त में वरुण ने यह स्वीकार कर लिया कि यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अर्थात् बिना किसी दबाव के, अपना लड़का दे दे तो मैं रोहित की जगह

उसको स्वीकार कर लूँगा।

इस बात की कम ही सम्भावना थी कि कोई व्यक्ति इस प्रकार अपने लड़के का प्राण देने को तैयार होगा, परन्तु इस पृथ्वी पर हर प्रकार के मनुष्य रहते हैं। अजीगर्त्त नाम का एक ब्राह्मण था। उसके तीन लड़के थे—शुनः पुच्छः, शुनः शेफ और शुनः लोगूल। उसने अपनी पत्नी से मंत्रणा की। शुनः पुच्छ सबसे बड़ा था। यह आशा थी कि थोड़े दिनों में वह कमाने योग्य हो जाएगा। अतः उसको देना तो पिता ने स्वीकार नहीं किया। शुनः लोगूल सबसे छोटा था। माँ ने कहा, "यह मेरी अन्तिम सन्तति है। इसे मैं नहीं दे सकती।" माँ-बाप दोनों ही बिचले पुत्र शुनः शेफ को देने के लिए तैयार हो गए। सौ गऊ लेकर वह लड़का हरिश्चन्द्र के हाथ बेच दिया गया।

लड़के को विधिवत् वरुण के हाथ सौंपने का आयोजन किया गया। इसके लिए यज्ञ रचाया गया। जब बलिय यूप अर्थात् बलिदान के खम्भे में बलि पशु के रूप में शुनः शेफ को बाँधने की बात आई तो कोई व्यक्ति इस नृशंस काम को करने के लिए तैयार नहीं हुआ। सौ गऊ लेकर अजीगर्त्त ने यह काम भी किया। अन्त में बलि देने का समय आया। लड़के का सिर काटना था। एक तो निरपराध भोला बालक, दूसरे ब्राह्मण कुमार, इस जघन्य कृत्य के लिए भी कोई आगे नहीं बढ़ा। बालक का पिता सौ गऊ लेकर इसके लिए भी तैयार हो गया।

बालक शुनः शेफ की उस समय की मानस-अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। खम्भे में बँधा खड़ा है। कुछ ही क्षणों में सिर धड़ से अलग कर दिया जाएगा। उसने मन-ही-मन

देवगण को पुकारा। प्रजापति, अग्नि, विश्वेदेव, इन्द्र सभी की शरण में गया। वह वरुण को सौंपा जा चुका था। उनको भी अपना मूक क्रन्दन सुनाया। देवगण का आसन हिल उठा। उसकी पुकार सुनी गई। तत्काल कहीं से घूमते हुए महर्षि विश्वामित्र वहाँ आ गए। उन्होंने पूछा, "यह सब क्या हो रहा है?" जब उन्होंने सारा वृत्तान्त सुना तो उनके क्रोध का पारावार न रहा। मनुष्य का वध जैसा नीच काम धर्म के नाम पर किया जाए, इसकी उन्होंने तीव्र भर्त्सना की। जो ऋषि-मुनि, पुरोहित वहाँ एकत्र थे, सब पर वाग्-बाण से प्रचण्ड प्रहार किया। हरिश्चन्द्र को धिक्कारा। एक तो वह बार-बार झूठ बोले, दूसरे अपने लड़के को बचाने के लिए एक दूसरे निरपराध बालक का प्राण देने जा रहे थे। वरुण को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। विश्वामित्र के तप के सामनें कौन ठहर सकता था? देव और मनुष्य सभी तप से जीते जा सकते हैं। वरुण को अपना आग्रह छोड़ना पड़ा। शुनः शेफ खोल दिया गया। यज्ञ वहीं बन्द हो गया। अजीगर्त्त ने उसको अपने साथ ले जाना चाहा और अपने लोभ के प्रायश्चित्त-स्वरूप उसको यह लालच दिया कि जो मुझको तीन सौ गौएँ मिली हैं, वे सब तुमको दे दूँगा, तुम्हारे दोनों भाइयों को एक भी नहीं दूँगा। पर शुनः शेफ उस राक्षस के साथ जाने पर राजी नहीं हुआ। विश्वामित्र उसे अपने साथ ले गए।

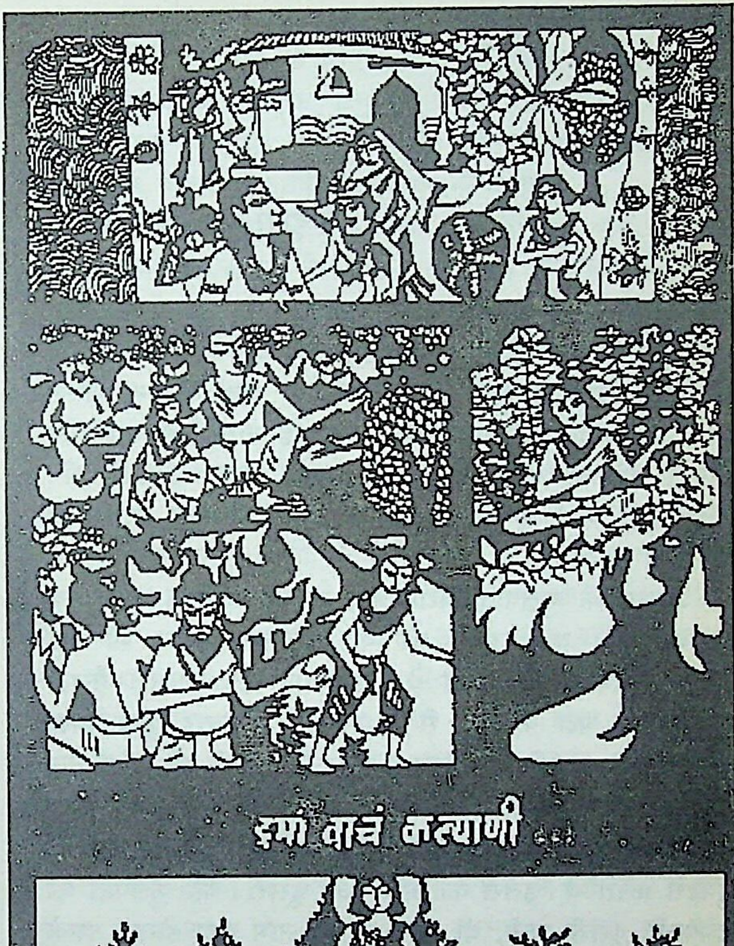
विश्वामित्र के साथ जाकर शुनः शेफ की कायापलट गई। विश्वामित्र के मधुच्छन्दा आदि सौ पुत्र थे। पिता के कहने से सब लड़कों ने शुनः शेफ को अपने-से ज्येष्ठ मान लिया। इस प्रकार वह उनके परिवार का अंग तो हो ही गया, उनके साथ

रहकर उसने ज्ञान और तप के मार्ग को अपनाया और अन्त में स्वयं वैदिक ऋषि हुआ। शुनः शेफ द्वारा प्रकट हुए कई मंत्र ऋग्वेद में हैं।

उधर हरिश्चन्द्र के जीवन में भी बड़ा परिवर्तन हुआ। रोग से मुक्त तो हो गए, पुत्र भी मिल गया, परन्तु उनके चित्त में भारी सन्ताप था। उनको दो बातों की स्मृति बराबर सताती रहती थी। एक तो अपने स्वार्थ के लिए एक निरपराध बालक का प्राण लेने की चेष्टा और दूसरे अपना बार-बार झूठ बोलना। इस प्रकार के सन्ताप और प्रायश्चित्त ने चरित्र को बदल दिया और अन्त में उनकी निष्ठा सत्य पर दृढ़ हुई। उनको अपनी पत्नी और पुत्र को बेचना पड़ा और स्वयं काशी में एक डोम के हाथ बिकना पड़ा, तब भी वह सत्य के पथ से विचलित नहीं हुए। आज उन हरिश्चन्द्र का चरित्र आदर्श सत्यवादी के रूप में मनुष्य-मात्र के सामने है। सत्य की अपार महिमा के सम्बन्ध में कहा गया है :

सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयोह्याप्तकामाः, यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।

—सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से ही वह देवयान मार्ग बिछा हुआ है, जिस पर चलकर आप्तकाम ऋषि लोग—वे लोग, जिन्होंने तप के द्वारा अपनी सभी इच्छाओं को वशीभूत कर लिया है—चलकर उस पद को प्राप्त होते हैं, जो सत्य का परम भण्डार है।


इमां वाचं कल्याणी

२ इमां वाचं कल्याणी...

इस आख्यान का नायक बालक महीदास है। आज से बहुत पहले की बात है--दो चार सौ नहीं, तीन-चार हजार वर्ष पहले की। उन दिनों सिन्धु और सरस्वती के बीच में घना जंगल था। उस जंगल को काट-काट कर कई जगहों में आर्यों ने अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। कहीं उनके नगर थे, कहीं गाँव और कहीं ऋषि-मुनियों के आश्रम। ऐसे ही एक आश्रम में महीदास रहता था।

आश्रम के कुलपति विद्या और तप के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे। वहाँ उनके घर के अतिरिक्त और भी कई विद्वान और तपस्वी रहते थे। साम-गान से आकाश गूँजता रहता था। यज्ञ के धुँए से वायुमण्डल निरन्तर शुद्ध होता रहता था। कुलपति के परिवार में उनकी पत्नी थीं और एक लड़का। इसके अतिरिक्त उनके साथ एक दासी भी रहती थी। दासी का नाम ज्ञात नहीं है, पर लोग उसे इतरा कहकर पुकारा करते थे। इतरा का अर्थ हुआ दूसरी। वह कुलपति की उपपत्नी, दूसरी पत्नी, थी, इसी से यह नाम पड़ा होगा। उसके कुलपति से एक पुत्र भी था। यही महीदास था। इतरा की सन्तान होने से इसे बहुधा 'ऐतरेय' कहा करते थे।

एक बार आश्रम में बहुत बड़े उत्सव का आयोजन हुआ। उसमें सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से विद्वान और तपस्वी आए। उनके आतिथ्य का समुचित प्रबन्ध किया गया। विशाल सभा-मण्डप सजाया गया। उसमें दर्शन, धर्म और दूसरे महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श होना था।

सभा आरम्भ हुई। उसी समय कुलपति का बड़ा लड़का भी उनके पास जाकर बैठ गया। महीदास भी साथ में चला गया। इससे वह बहुत क्षुब्ध हुए। यों तो सभी जानते थे कि उन्होंने घर में उपपत्नी रख छोड़ी है और उससे सन्तान भी है, परन्तु भरी सभा में इस बात का विज्ञापन उनको अभीष्ट नहीं था। उन्होंने महीदास को डाँटकर भगा दिया।

बच्चे की समझ में कुछ नहीं आया कि ऐसा क्यों हुआ। आज यह पहला ही अवसर था जबकि उसके साथ ऐसा व्यवहार हुआ था। बच्चों के नन्हे हृदय पर मान-अपमान का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। महीदास फूट-फूटकर रोने लगा। रोते-रोते माँ के पास पहुँचा और उससे सारा वृत्तान्त कहा। वह बेचारी भला क्या सान्त्वना देती ! जन्म से शूद्रा थी। जानती थी कि शूद्रों के साथ कैसा व्यवहार होता है। उनसे काम लिया जा सकता है, परन्तु समाज में उनका स्थान सदा छोटा माना जाता था और सब बात चुपचाप सह लेनी पड़ती थी। उसने बालक को चुप कराने का प्रयत्न किया और कहा, ''बेटा, हम लोगों के भाग्य में यही लिखा है। हमको केवल पृथ्वी माता शरण दे सकती है।'' सम्भवतः इतरा का यह तात्पर्य रहा होगा कि पृथ्वी फट जाए और हम उसमें समा जाएँ। इसके सिवाय हमको कहीं शरण नहीं मिल सकती।

परन्तु बालक ऐसा नहीं समझा। उसने माँ के शब्दों को ज्यों-के-त्यों ले लिया और यह समझा कि यदि पृथ्वी माता को तुष्ट किया जाए तो वह प्रसन्न होकर हमारे सब दुःखों को दूर कर सकती हैं।

अब पृथ्वी देवमाता को प्रसन्न कैसे किया जाए? उसने आश्रम में लोगों को इन्द्रादि देवों को प्रसन्न करने के लिए मंत्र-पाठ करते देखा था। सम्भवतः कुछ टूटे-फूटे मंत्र उसको कण्ठस्थ भी रहे होंगे, परन्तु पृथ्वी देवमाता का कोई मंत्र उसको ज्ञात नहीं था। और भी कोई क्रिंया उसे नहीं आती थी। आखिर छोटा बच्चा ही तो ठहरा ! परन्तु उसने लोगों को आसन लगाकर बैठे देखा था। उसने सोचा कि मैं भी यही उपाय करूँ। पृथ्वी देवमाता प्रसन्न हो ही जाएंगी।

जंगल में एक कोने में जाकर वह आसन लगाकर बैठ गया। पृथ्वी का तो कोई ध्यान जानता नहीं था। सम्भव है, आश्रम भूमि को ही ध्यान का अवलम्बन बना लिया हो। योग के आचार्यों का कहना है कि 'यथाभिमतध्यानात्', जो भी ध्यान अपने को अच्छा लगे, उससे काम बन सकता है। चित्त में एकाग्रता हुई। शास्त्र कहते हैं कि कहीं 'क्रोधाद् धर्म्मः' कहीं 'लोभाद् धर्म्मः' कहीं 'कामाद् धर्म्मः,' होता है। यहाँ क्रोध ने उसके चित्त को सब ओर से खींचकर पृथ्वी देवमाता की ओर लगा दिया था। थोड़ी-सी देर में चित्त एकाग्र हो गया और महीदास ने समाधि की भूमिकाओं में प्रवेश किया।

उधर सभा समाप्त होने पर उसके पिता सम्भवतः उसको ढूँढ़ने निकले होंगे। लोक-लज्जा के कारण उन्होंने बच्चे का तिरस्कार किया था, पर भीतर से दुःखी तो रहे ही होंगे। जो

हो, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पिता और दूसरे लोग उस जगह पहुँचे, जहाँ महीदास बैठा हुआ था। पर महीदास का व्यक्तित्व ही अब बदल चुका था। उसके तेज के बल से उसका शरीर जाज्वल्यमान हो रहा था। समाधि में उसने ऊँची भूमिकाओं को पार किया था। इसी छोटे वय में आत्म-साक्षात्कार कर लिया था। परमात्मा की पराशक्ति उसके सामने भू-देवी के रूप में प्रकट हुई और उससे वर माँगने को कहा। उसने कहा कि मुझे वेद के ऐसे अंश बताइए, जिनका मेरे पहले किसी ऋषि-मुनि को ज्ञान न रहा हो। देवी ने उसकी इच्छा पूरी की। फिर वह समाधि से उठा। उठने पर उसकी वाणी में दूसरा ही ओज था। शूद्र-पुत्र बालक महीदास अब ब्राह्मण और ऋषि महीदास हो गया था।

वेद ईश्वरीय ज्ञान का अनन्त और अखण्ड भण्डार है। उसका कोई पारावार नहीं है। समय-समय पर उसका कुछ अंश किसी ऋषि विशेष के द्वारा जगत् में प्रकट होता है। महीदास के द्वारा वेद का जो भाग प्रसिद्ध हुआ, उसे ऋग्वेद की 'ऐतरेय शाखा' कहते हैं। महीदास के नास से सम्बद्ध 'ऐतरेय ब्राह्मण' नाम का ग्रन्थ भी है, जिसमें यज्ञादि के कितने विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी ग्रन्थ का एक खण्ड वह 'ऐतरेय उपनिषद' है, जिसमें आत्म-ज्ञान का विवेचन है।

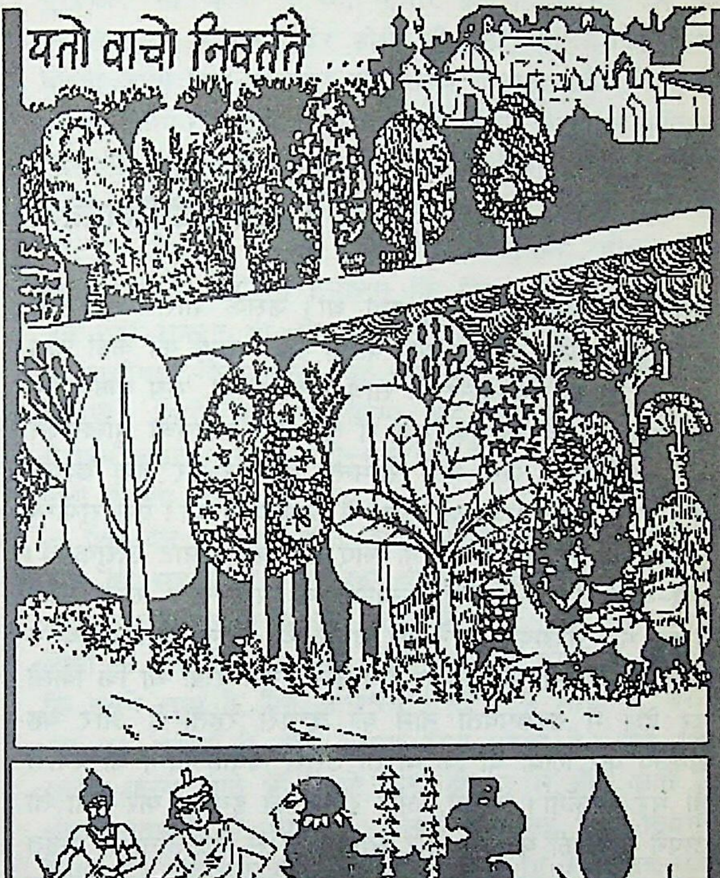
महीदास को आत्म-स्वरूप का जो दर्शन हुआ, उसकी चर्चा सभी ब्रह्म-वेत्ताओं ने की है। संक्षेप में कहें तो उसका सार यह है कि 'अयम् आत्मा ब्रह्म,' अर्थात्, यह आत्मा ब्रह्म है। प्रश्न यह है कि यह आत्मा सम्बन्धी ज्ञान किसको दिया जाए? यह तो ठीक है कि जो अधिकारी नहीं है, उसको ज्ञान

नहीं देना चाहिए। यह बात तो सभी ज्ञातव्य विपयों के लिए लागू होती है, परन्तु अधिकारियों में जाति, वर्ण, देश आदि का भी विचार करना चाहिए या नहीं। यों तो महीदास का जीवन ही इसी प्रश्न का उत्तर है। ज्ञान के देवता ने उसके जन्म आदि का विचार न करके उसका वरण किया था। उसी देवता ने एक दूसरे अवसर पर यह डिंडिम घोष किया था :

इमां वाचं कल्याणी मा वदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्राय चार्य्याय स्वाय चारणाय च॥

—यह कल्याणमयी वाणी सबको सुनाऊँगा—ब्राह्मण और क्षत्रिय को, वैश्य और शूद्र को, अपने और पराये को।

वेद का कल्याणमय सन्देश किसी एक देश, किसी एक काल, किसी एक जाति के लोगों के लिए नहीं है। जो भी ज्ञान का प्यासा है, उसके लिए इस आनन्द-कानन में प्रवेश करने के लिए द्वार सतत खुला है।


यतो वाचो निवर्तंते ...

३ यतो वाचो निवर्तंते...

चेतनादित्य कायाकोट का राजा था। उसके शासन में सारी प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। कलह और संघर्ष का कहीं नाम न था, सबका एक-दूसरे के साथ सहयोग था, सब एक-दूसरे के साथ सौहार्द के दृढ़ सूत्र में बँधे थे। महामंत्री बुद्धिवर्धन और अक्षिवर्म्मा जैसे दसों सामन्तों की दूर-दूर तक ख्याति थी। इनके रहते राजा को कुछ भी अलभ्य न था। ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को जामाता बनाने के लिए बड़े-बड़े सम्राट उत्सुक थे। रूप-यौवन-विद्या-सम्पन्न कन्याओं के साथ-साथ राज्य और वैभव भी न्यौछावर करने को तैयार थे, परन्तु चेतनादित्य ने कहीं भी अपनी स्वीकृति न दी। उसने सुन रखा था कि किसी दूर देश में स्वरूपवती नाम की कुमारी रहती है और यह संकल्प कर लिया था कि या तो उससे विवाह होगा या क्वारा ही मर जाऊँगा। जो हो, और लोगों को इन्कार कर देना तो अपने हाथ की बात थी, पर स्वरूपवती से भेंट होना तो बहुत दुष्कर था। इतना ही ज्ञात था कि उसके नगर का नाम आनन्दग्राम है, पर वह ग्राम किधर और कितनी दूर है, इसका पता न था। उसने यह घोषणा की कि जो कोई आनन्दग्राम का पता बतलाएगा, उसको पुरस्कार दिया जाएगा।

पुरस्कार भी थोड़ा न था, कुमार अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत था। ज्यों-ज्यों देर होती थी, त्यों-त्यों उसका संवेग बढ़ता जाता था। पुरस्कार के लालच में बहुत लोग जानकार बनकर आए। किसी ने पूर्व जाने को कहा, किसी ने पश्चिम, किसी ने कोई जड़ी-बूटी दी, किसी ने वशीकरण का अनुष्ठान करके स्वरूपवती को आकृष्ट करना चाहा। किसी ने कहा कि तुम प्रेम से उसके नाम की रट लगाते रहो, उसका कल्पित चित्र—कल्पित इसलिए कि बिना देखे यथार्थ चित्र बन नहीं सकता था—निरन्तर आँखों के सामने रखो, उसी का यशोगान किया करो, वह आप ही आविर्भूत होकर आ मिलेगी। उसने यह सब किया, पर कुछ हाथ न आया। नैराश्य बढ़ता गया। कभी-कभी जी में आता था कि ऐसे जीने से तो मरना ही भला।

एक दिन वह इसी उधेड़-बुन में डूबा हुआ अपने नगर के पास की सड़कों पर घूम रहा था कि यकायक उसकी दृष्टि एक पगडंडी पर पड़ी, जो उत्तर की ओर जाती थी। उसने लोगों से पूछा कि यह कहाँ जाती है। कुछ वृद्धों ने बतलाया कि हमने सुना है, यह आनन्दग्राम की ओर जाती है, परन्तु इस पर शायद ही कोई चलता दीख पड़ता है। कुछ लोग साहस करके जाते भी हैं तो थोड़ी ही दूर से लौट आते हैं। कहा जाता है कि मार्ग में तपोवन नाम का बड़ा भयानक जंगल है। राजा तो जीने से ऊब ही चुका था और सब मार्गों की परीक्षा भी कर चुका था। वह इस पगडंडी पर चल पड़ा। धर्म्मा नामक प्यारे घोड़े पर सवार था। साथ में इतना सामान ले लिया, जो यात्रा के लिए आवश्यक पाथेय समझ में आया।

एकाकी चलना था। बीच-बीच में कई पगडंडियाँ दाएँ-बाएँ फूटी थीं। कई बार बहक गया, फिर सीधे मार्ग पर आया। चारों ओर सचमुच भयावह दृश्य था। लोगों ने जो कुछ कहा था, उसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न थी। कहीं ऐसे गगनचुम्बी पेड़ थे कि उनमें से छनकर सूर्य की किरणें भूतल को छू पाती थीं, कहीं काँटों से देह छिली जाती थी, कहीं दहकता मरुस्थल था, कभी-कभी झंझा, कभी दावानल, कभी मूसलाधार वृष्टि। बनैले पशुओं की दहाड़ कलेजा हिला देती थी। रह-रह कर घर का शान्त वातावरण पीछे खींचता था। कई बार पाँव लौटे, फिर मुड़ा और आगे बढ़ा। पगडंडी की लीक तो थी, उसी का सहारा था, परन्तु वह बराबर पतली होती जाती थी। जो सामान लेकर चला था, उसको लेकर आगे बढ़ना असम्भव था। धीरे-धीरे उसको छोड़ता चला। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी के कष्ट झेलने पड़े, पर हिम्मत न हारा। पशु-पक्षी भी उसके प्रयास पर किलकारियाँ मारते थे, यह सब भी सहा। इस दशा में यदि ढाढस बँधानेवाली वस्तुएँ थीं तो दो—उसका घोड़ा और उसके हृदय की लगन। भगवान् का नाम लेते-लेते जंगल का अन्त हुआ। एक नगर दीख पड़ा। पूछने पर वहाँ के निवासियों ने बताया कि इसे श्रद्धापुरी कहते हैं। यह आनन्दग्राम का उपनगर है। उन्होंने उसके साहस की प्रशंसा की, क्योंकि तपोवन से पार निकल आना सबके बूते का काम नहीं है।

यहाँ रहकर जब उसका चित्त कुछ स्वस्थ हुआ तो उसको फिर वही धुन समाई। उपनगर तक पहुँच जाने की आशा तो बँध ही गई थी। उसने लोगों से पूछताछ आरम्भ की।

अनुसन्धान करने पर इतना ज्ञात हुआ कि नगर के मुख्य फाटक पर वाणी देवी का पहरा है। वहाँ उन लोगों का जमघट रहता है, जो स्वरूपवती के प्रेम में तपोवन के संकटों को झेलने में समर्थ होते हैं।

चेतनादित्य भी वहाँ पहुँचा। वाणी देवी का दर्शन करना सुकर न था। कई ड्योढ़ियाँ बीच में पड़ती थीं। बरसों प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। कितने तो हताश होकर वहीं से लौट जाते थे। चेतनादित्य इनमें न था। वह धुन का पक्का था। आखिर एक दिन दरबार में प्रवेश हुआ। वाणी देवी की आकृति का क्या कहना ! सुन्दर शरीर और फिर जब बोलती थीं तो मोती झड़ते थे। चारों ओर झुण्ड-के-झुण्ड प्रेमी उनके स्वनपीयूष का पान कर रहे थे। इसकी ओर भी देखकर वह मुस्करायीं, इसके अध्यवसाय की प्रशंसा की। यह पक्का दरबारी हो गया। ऐसा कोई विषय आकाश-पाताल में न था, जिसकी चर्चा न होती। मुँह से प्रश्न निकलने न पाता कि उत्तर मिल जाता। पर इसके चित्त से असन्तोष का घुन निकलता न था। कारण यह था कि यह जब-जब स्वरूपवती की बात छेड़ता तब-तब वह किसी-न-किसी बहाने विषय पलट देतीं। आखिर जब यह अधीर हुआ तो उन्होंने वहाँ का भी कुछ वृत्तान्त सुनाया। आनन्दग्राम का कुछ वर्णन किया। स्वरूपवती की कुछ रूपरेखा बताई। जब यह इसके आगे पूछता तो वह कह देतीं कि भला ऐसी बातें शब्दों में समझाई जा सकती हैं। तुम मुझे मिश्री का स्वाद तो समझाओ। यह बेचारा अवाक् हो जाता। कुछ दिन रहने के बाद उन्होंने इससे यह प्रस्ताव किया कि तुम मुझको वरण करो। एक बार तो उसका जी भी लालच में आ गया,

फिर सम्भल गया। उनसे हाथ जोड़कर निवेदन किया कि आपने मेरी आँखों से मिथ्या ज्ञान का तिमिर दूर किया है, अतः मेरे लिए पूज्य हैं, मातृस्थानीया हैं, मैं आपको पत्नी नहीं बना सकता। इस पर वाणी कुछ रुष्ट-सी हुईं। उन्होंने कहा, "तुम मूर्ख हो। देखो तो कितने मनुष्य मेरे जरा से कृपा-कटाक्ष के लिए तरसते रहते हैं और तुम मेरा यों तिरस्कार करते हो!" यह कहकर वह उसे एक कमरे में ले गईं। उसमें बहुत-से अन्धे बैठे थे। वाणी बोलीं, "देखो, यह भी तुम्हारी भांति तपोवन को पार कर आए थे, पर मेरा निरादर करके ग्राम में घुसना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि अन्धों की भांति इधर-उधर टकराते रहे। अब फिर मेरी शरण में आए हैं।" चेतनादित्य इस पर भी दृढ़ रहा। उसने फिर निवेदन किया कि माता, मैं आपका निरादर नहीं कर सकता। आपने जो बातें बतलाई हैं, वे मुझे भूल नहीं सकतीं। आपके उपदेश का मुझे आनन्दग्राम में पग-पग पर काम पड़ेगा। पर आप अब मुझे यहाँ न रोकें, भीतर जाने दें। वाणी प्रसन्न हो गईं। उन्होंने कहा, "पुत्र, यह जिसे लोग फाटक समझते हैं, वस्तुतः फाटक नहीं है, केवल फाटक का चित्र है। जो अनधिकारी हैं, वे यहीं रुक जाते हैं। वास्तविक प्रवेश-द्वार गुप्त है। उसकी कुँजी मेरे पास नहीं है।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।"[1]

—तुम जिस पदार्थ को ढूँढ़ते हो, वह न तो प्रवचन से लभ्य

---

[1] मुण्डकोपनिषद् ३, २, ३

है, न मेधा से, न बहुत पढ़ने-लिखने से।

मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, तुम उसे प्राप्त करोगे। भीतर जाने पर मेरी कही बातों को बराबर ध्यान में रखना।

चेतनादित्य प्रणाम करके विदा हुआ। उसकी दशा प्रायः अब भी वैसी ही थी, जैसी श्रद्धापुरी में आने के समय थी। आनन्दग्राम निकट था, पर उतना ही दूर था। उसको युक्ति सूझ न पड़ती थी।

एक दिन योंही भटका-भटका फिर रहा था कि उसे दूर से किसी के गाने का स्वर सुनाई पड़ा। पास गया। देखा, एक तरुण संन्यासी कुछ गुनगुना रहा है। इतना स्पष्ट सुन पड़ा—"मन मेरा विहरत आनन्द कानन में।" संन्यासी का हँसता चेहरा, उसका मधुर कण्ठ, गाने में आनन्द शब्द—चेतना के लिए ये सभी बातें आकर्षक थीं। वह स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम करके बैठ गया। कुछ देर के बाद वह उससे अभिमुख हुए। उसका नाम, पता और वहाँ आने का कारण पूछा। वह स्वरूपवती से मिलने की इच्छा सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "तुम पागल हो ! न जाने कितने जीवन इस फेर में नष्ट हुए। कैसी स्वरूपवती? कैसा उसका प्रेम? तुम्हें समझानेवाला कोई समझदार मित्र भी न मिला। युवा पुरुष हो, क्यों अपनी मिट्टी खराब करते हो? अभी कुछ नहीं बिगड़ा, घर लौट जाओ।" स्वामीजी यों भर्त्सना तो कर रहे थे, पर न जाने क्यों, चेतन का चित्त यह कहता था कि वह उसकी खोज में सहायक होंगे। वह उनका नाम सुन चुका था। उनको देशिकेन्द्र या देशिकजी कहते थे। बस्तीवाले उन्हें पागल समझते थे। जवान आदमी, कोई उद्यम नहीं, किसी ने

कुछ दिया, खा लिया, नहीं तो योंही रह गए। चेतन के लाख मना करने पर भी उनके यहाँ आना-जाना न छोड़ा। आखिर एक दिन उन्हें उस पर दया आ ही गई। उन्होंने ग्राम में प्रवेश करने के चोर दरवाजे का पता उसे बता दिया। दरवाजा ऐसा था कि बिना बताए अपने प्रयत्न से हजार जन्म में भी ढूँढ़े न मिलता। उन्होंने उसे उक लकड़ी दी, जिसका नाम विरत था। कड़ी आज्ञा थी कि इसे हाथ से न जाने देना।

इस द्वार पर रक्षा का प्रबन्ध साधना देवी के हाथ में था। तपस्विनी का वेष, हाथ में त्रिशूल। चेतन को आते देख उन्होंने द्वार खोल दिया और संकेत करती हुई बोलीं, "वत्स, तुम्हारा कल्याण हो। तुमको यह द्वार मिल गया, इसके लिए बधाई देती हूँ, पर अभी बड़ी लम्बी यात्रा है। देखो, किसी प्रलोभन में पड़कर रुक न जाना। थोड़ी देर चलने के बाद तुमको आगे के लिए पथ-प्रदर्शक मिल जाएगा। हाँ, अपने घोड़े को यहीं छोड़ जाओ। यहाँ इसकी गति नहीं है।"

चेतन एक बार तो नई जगह में अपने को अकेला पाकर घबराया, फिर आगे बढ़ा। चित्त में प्रसन्नता भी थी। एक दिन वह भी आ गया कि आनन्दग्राम के भीतर उसका प्रवेश हो गया। पर उसको अधिक सोचने का अवसर न मिला। चारों ओर से उसकी इन्द्रियों पर दिव्य प्रहार होने लगे। भूमि क्या थी, मखमल-सी कोमल, चाँदनी-सी शीतल। मादक गन्ध के झकोले आ रहे थे। ऐसा परिमल अपने देश में उसे कब नसीब हुआ था। जगह-जगह पर मधुधारा बह रही थी। अपने पिता के महलों में उसने भांति-भांति के झाड़-फ़ानूस देखे थे, बिजली की बत्तियाँ देखी थीं, पर यहाँ के झलझलाते प्रकाश के

आगे सब फीका पड़ गया और फिर गान और वाद्य का तो वह समा बँधा था कि चित्त बन्दी हो-हो जाता था। एक-एक पत्ता ताल पर हिलता था, हवा की हर सांस में लय और मूर्छना थी। आँख गड़ाकर जो देखा तो चेतन को प्रतीत हुआ कि वह वहाँ अकेला न था। उसकी ही भांति कई प्रेमी जीव वहाँ थे, पर वे इधर-उधर बैठे इस रस में सराबोर थे। उनसे आगे बढ़ा ही न जाता था। उनमें कुछ ऐसे भी थे, जो वहाँ के कंकड़-पत्थरों को, जो वस्तुतः मणि-माणिक थे, बटोरकर दिखलाने के लिए बाहर जाना चाहते थे। साधना देवी उनके लिए द्वार खोल देती थीं और दो बूँद आँसू गिराकर चुप रह जाती थीं। चेतन का चित्त भी विचलित हो उठा, परन्तु साधना की बातों की सुध आ गई और आगे बढ़ा। धीरे-धीरे प्रकाश की जगह अन्धेरा बढ़ने लगा। गाने-बजाने की जगह भैरव गर्जन ने ले ली, माथे में चक्कर आ गया, पसीना छूट गया, शरीर काँप उठा, गला रुंध गया। पाँव पीछे को मुड़े कि यकायक जैसे देशिकजी सामने खड़े होकर अभय मुद्रा से उसे देख रहे हों, ऐसा प्रतीत हुआ। सम्भल गया, चित्त कुछ स्थिर हुआ, दांत पीसकर आगे बढ़ा। सामने एक सरोवर था। उसमें एक कमल खिला था। कमल की कणिका में एक नागिन सो रही थी। चेतन की आहट पाकर उठ बैठी और कमल से उतर कर आगे की ओर बढ़ी। उसे पथ-प्रदर्शक मानकर चेतन भी पीछे हो लिया।

आगे-आगे बल खाती नागिन, पीछे-पीछे चेतन। उसको जो-जो अनुभव हुए, उनका वर्णन करने चलूँ तो कथा का कलेवर बहुत बढ़ जाएगा। और फिर वाणी देवी के शब्दों में

मिश्री का स्वाद तो दूसरे को समझाया ही नहीं जा सकता। आनन्दग्राम के आनन्दों को बताने की योग्यता किसने पाई है! अब भय तो पीछे छूट गया था। पदे-पदे नया दृश्य, क्षण-क्षण नया कौतुक। चेतन अकेला न था। उसने देखा कि उसकी भांति और भी बहुत से यात्री नागिनों के पीछे आगे बढ़ रहे हैं। सबके हाथों में उसकी ही भांति एक-एक लकड़ी है। यों तो इस दुनिया में सबकुछ विचित्र था, परन्तु दो बातों की ओर चेतन का ध्यान विशेष रूप से गया। एक तो यह कि मार्ग के दोनों ओर कुछ-कुछ दूर पर बड़े सुन्दर स्थान आते थे। हर स्थान पर एक देवी मिलती थी। प्रत्येक देवी रूप और तेज की प्रतिमा थी। सबके साथ सहेलियाँ थीं। ये सहेलियाँ उधर जानेवालों को वहाँ रुकने के लिए निमंत्रित करती थीं और कितने ही यात्री देवी को स्वरूपवती मानकर वहाँ रुक जाते थे। जब वह देवी की ओर बढ़ते तो उनके हाथ की लकड़ी ले ली जाती थी। लकड़ी के हटते ही उनकी बुद्धि ठगी-सी हो जाती थी। वह वहीं रुक जाते थे। इस प्रकार पथिकों की संख्या छीजती जाती थी, और तब देशिकजी का बताया हुआ यह उपदेश स्मरण हो आया :

स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकरणं,
पुनरनिष्ठ प्रसंगात[1]

—स्थानों के अधिष्ठाताओं के निमंत्रण पर न तो संग करना चाहिए, न अभिमान से मुस्कराना चाहिए। (उभयतः) पतन का डर है। दूसरी विचित्र बात यह थी कि प्रत्येक पथिक

---
१ योगदर्शन ३, ५१

यह कहता था कि उसको देशिकजी ने लकड़ी दी और भीतर प्रवेश कराया, परन्तु कोई उनको गृहस्थ बताया था कोई संन्यासी, कोई बाल कोई वृद्ध, कोई हिन्दू कोई मुसलमान, कोई अपढ़ कोई पण्डित, कोई पुरुष कोई स्त्री, कोई ब्राह्मण कोई चाण्डाल। चेतन की समझ में यह बात न आई कि एक ही देशिकजी ने ये सब रूप धारण किए थे या इस नाम के अनेक व्यक्ति हैं।

चलते-चलते एक बहुत तंग गुफा में नागिन घुसी। चेतन उसके पीछे था। आगे बराबर पहाड़ की चढ़ाई थी और बड़ा चक्करदार मार्ग था। अन्त में एक जगह, जो पहाड़ के शिखर का मध्य भाग प्रतीत होता था, नागिन ठमक गई। चेतन ने देखा, सामने सोने का फाटक है। उसके द्वार पर रत्न-जटित सिंहासन पर एक देवी विराजमान है। जो शब्द पहले की देवियों की उपमा बताने में ही हार चुके हैं, वे यहाँ भला क्या पार पा सकते हैं। देवी के सामने सैकड़ों प्रेमी नतमस्तक खड़े थे। इनमें से कुछ के नामों से चेतन परिचित था। उसके देश में उनकी बड़ी ख्याति थी। वह उनमें से एक महानुभाव के पास, जो बड़े शान्त प्रकृति के ओजस्वी व्यक्ति दीख पड़ते थे, गया और उनको प्रणाम करके पूछा, "भगवन्, यह देवी कौन हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "यह वही स्वरूपवती हैं, जिनकी खोज हमको-तुमको यहाँ तक लाई है।" चेतन ने कहा, "फिर आप लोग फाटक के बाहर क्यों बैठे हैं? भीतर क्यों नहीं चलते?" उन्होंने उत्तर दिया, "भीतर-बाहर में भेद मानना भ्रम है। जो बाहर है, वही भीतर है। अन्तर यह है कि जो भीतर जाता है, वह खो जाता है। अब तुम्हीं

बतलाओ, जब अपनापन ही न रहा तब कौन किससे प्रेम करेगा, कौन आनन्दग्राम का सुख भोगेगा?'' यह बात चेतन को भी ठीक जँची। वह भी वहीं लकड़ी रखकर बैठनेवाला ही था कि यकायक उसे वाणी देवी की एक बात याद हो आई। उन्होंने कहा था कि अन्तःपुर के द्वार पर माया देवी का पहरा है। उनके दो रूप हैं। बाहर से देखनेवालों के लिए वह मोहिनी अविद्या हैं, पर जो अपने 'मैं हूँ' भाव की आहुति देकर भीतर जाने पर तुल जाता है, उसके लिए वह मोहहंतृ विद्या बन जाती हैं। चेतन सम्भला। लोग रोकते ही रहे, पर वह साहस करके भीतर घुसा। नागिन वहीं देवी के चरणों में अन्तर्धान हो गई। भीतर आकर चेतन को देवी के विद्यारूप के दर्शन हुए। वह रूप कैसा था, मैं कैसे कहूँ! जिसने देखा है, वही जानता होगा। विद्या की अनन्त गाम्भीर्यमयी, अनन्त प्रसादमयी और अनन्त तेजोमयी दृष्टि के सामने आते ही चेतन सचमुच अपने को भूल चला। उसने देवी को प्रणाम किया। देवी ने अपना वरद हाथ उसके मस्तक पर रखा। उस कोमल कर का स्पर्श होते ही चेतन में विचित्र स्फूर्ति दौड़ गई। देवी ने आगे की ओर संकेत किया। चेतन उधर बढ़ा।

सामने एक के पीछे एक, सात रेशमी पर्दे थे। चेतन इनके सम्बन्ध में सुन चुका था—**तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा**। पर्दों का झीनापन उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। पर्दों के भीतर से दीख पड़ता था कि सामने स्वरूपवती सिंहासन पर बैठी है। उसके शरीर के लोकोत्तर सौकुमार्य, दीप्ति, सौन्दर्य, लावण्य का चित्त से भी धारण न हो सकता था, फिर भाषा बेचारी की वहाँ

कहाँ पहुँच होती!

चेतन जिस पर्दे के पास पहुँचता था, वह आप-से-आप हट जाता था। ज्यों-ज्यों पर्दे हटते जाते थे त्यों-त्यों स्वरूपवती का रूप और स्पष्ट होता जाता था, पर विलक्षण बात यह थी कि चेतन को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह स्वयं स्त्री होता जाता है। जब एक-दो पर्दे और रह गए तब एक और विलक्षण बात प्रतीत होने लगी। स्वरूपवती का शरीर पुरुष-जैसा प्रतीत होने लगा। अन्तिम पर्दा आया। उस समय तक दोनों में कुछ ऐसा परिवर्तन हो चुका था कि यह कहना कठिन था कि कौन चेतन है और कौन स्वरूपवती है। पर्दे के पास देशिकजी खड़े थे।

चेतन ने अन्तिम कदम बढ़ाया। पर्दा हटा। स्वरूपवती उसकी ओर बढ़ी। दोनों मिले। चेतन का स्वरूप से संयोग हो गया। फिर जो देखा गया तो न चेतनादित्य था, न स्वरूपवती थी, न देशिकेन्द्र थे। बस, शून्य में एक निश्चल दीपशिखा जल रही थी। यह विवाह कहाँ हुआ? यहाँ, वहाँ और सर्वत्र।

विवाह कब हुआ? तब, अब और सदैव।

विवाह होने पर जिस आनन्द का अनुभव चेतनादित्य ने किया, वह कैसा था? वह स्वयं तो उसे क्या व्यक्त करता, भला अपने आपकी अनुभूति कैसे हो और किस प्रकार दूसरों तक पहुँचाई जाए! वहाँ अकेला एक ही तो था। दूसरा था भी कौन? और फिर इस सम्बन्ध में यह कहा गया है :

यतो वाचो निवर्तन्ते
अप्राप्य मनसा सह।[1]

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद् २, ४

—जहाँ बुद्धि और वाणी दोनों की गति नहीं है।

फिर भी कभी देशिकजी ने इन शब्दों में उसका वर्णन किया था :

आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि।[1]

और

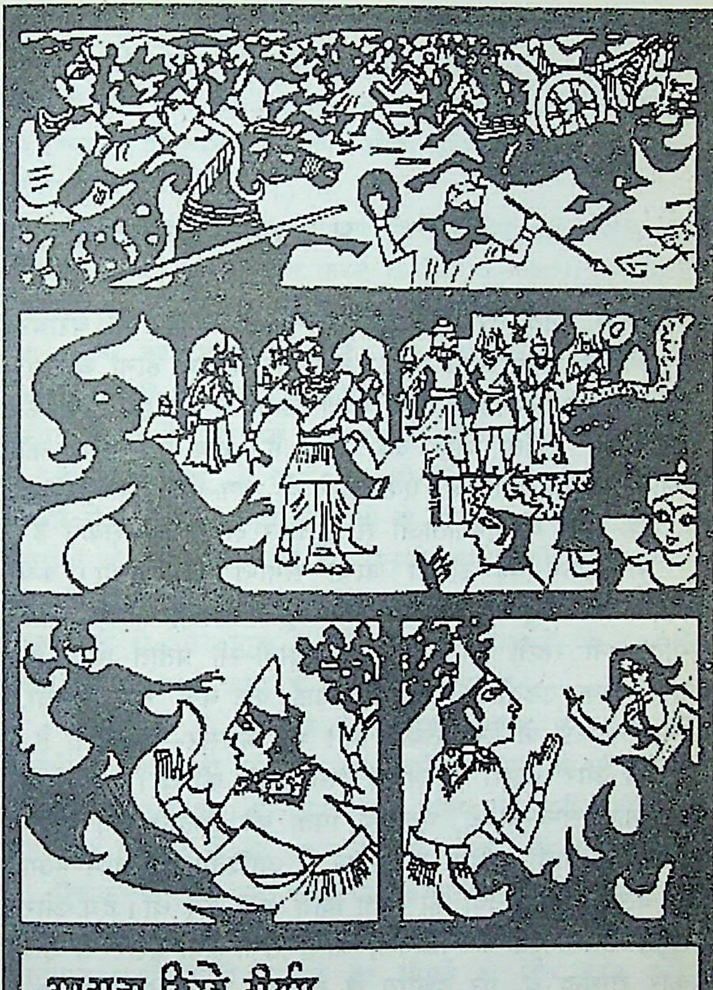
आनन्दोब्रह्मेति व्यजानात्।[2]

—आनन्द का जो परम समुद्र है वह मैं हूँ। और आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जाने।

◈

१ मैत्रेयोपनिषद् १, १५

२ तैत्तिरीय उपनिषद् ३, ६



आत्मना विंदते वीर्यम् ...

४ आत्मना विंदते वीर्यम्...

कलह तो सदैव बुरा होता है, परन्तु गृह-कलह के बराबर दूसरा कोई झगड़ा नहीं होता। घरवालों में प्रेम होना चाहिए, पर जब सहज-स्नेह द्वेष में बदल जाता है तो इस द्वेष की मात्रा और तीव्रता बहुत बढ़ जाती है। सब एक-दूसरे को भली-भांति पहचानते हैं, एक-दूसरे के गुण-दोषों से परिचित हैं, एक-दूसरे की दुर्बलताओं से खुलकर लाभ उठा सकते हैं।

और फिर यह झगड़ा जल्दी समाप्त नहीं होता। कब किसने क्षति पहुँचाई थी, यह बात भूलती नहीं, पीढ़ियों तक स्मृति बनी रहती है। आग कुछ बुझती-सी प्रतीत होती है, फिर भड़क उठती है। सन्धि लड़ाई को बन्द नहीं करती, अगली लड़ाई के लिए तैयार होने का अवसर-मात्र देती है।

देवों और असुरों की लड़ाई इसी प्रकार की थी। एक-दूसरे के निकट सम्बन्धी थे, एक ही पिता की सन्तति थे। महर्षि कश्यप की पत्नी अदिति की कोख से आदित्यों का जन्म हुआ था। दैत्यों और दानवों की माता दिति और दनु थीं। देव और असुर, उभय पक्ष के नेतागण, प्रायः सभी एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध थे, पर दुर्भाग्य से व्यवहार में बन्धन-स्नेह का नहीं, द्वेष का था। दोनों ओर बड़े-बड़े महाप्राण और महारथी

थे। सभी रण-कुशल थे और कई तो महा तपस्वी भी थे। यदि देव-पक्ष के श्रेष्ठ व्यक्तियों में इन्द्र, मरुत, अग्नि, विष्णु और रुद्र के नाम लिए जा सकते थे तो असुर-पक्ष के हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, प्रह्लाद और बलि के नाम भी उसी तपाक से लिए जाते थे।

लड़ाई छिड़ने के लिए कारण ढूँढ़ने में देर नहीं लगती थी। देवगण मनुष्यों का कल्याण करने के लिए कृतसंकल्प थे। यों वे संसारी सुख-समृद्धि भी प्रदान करते थे, परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य था मनुष्य का पारमार्थिक हित। वह उसको धर्म के पथ पर चलाना चाहते थे। यदि वह स्खलित हो गया तो फिर सम्भालकर ऊपर उठाते थे और यह बात असुरों को अभीष्ट न थी।

कहते हैं, गेहूँ के साथ घुन भी पिस जाता है। बड़ों के संघर्ष में छोटे मारे जाते हैं। देवों से अनबन के कारण असुर मनुष्यों के पीछे पड़े रहते थे। उनको सन्मार्ग से च्युत करना ही उनका जैसे एकमात्र लक्ष्य बन गया था। लालच से भी काम लेते थे और त्रास से भी और फिर मनुष्यों के त्राण के लिए देवों को भी युद्ध में उतरना पड़ता था।

दोनों पक्षों के बलाबल का सन्तुलन कुछ ऐसा था कि निर्णायक युद्ध कभी नहीं हो पाया। कभी एक पक्ष की जीत होती थी, कभी दूसरे की। इसलिए लड़ाई कभी बन्द नहीं होती थी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज भी वह संग्राम चल रहा होगा।

युद्धकाल में भी कुछ व्यक्तियों के सामने दोनों समुदायों के सिर समान रूप से नत होते थे। इनमें सबसे श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ भगवान् प्रजापति थे। उनसे वर माँगने में और ज्ञान प्राप्त करने में किसी को हिचक नहीं थी। महर्षि कश्यप तो दोनों

के पूर्व पुरुष थे ही। उनके पिता, ब्रह्मा के आत्मज, मरीचि भी उभयतः समादर के पात्र थे। कई अन्य ऋषि लोग भी सर्वत्र पूज्य माने जाते थे।

आज से बहुत दिन पहले की बात है। भीषण देवासुर संग्राम छिड़ा हुआ था। इस बार असुरवाहिनी की शक्ति अजेय-सी प्रतीत होती थी, देवसेना के छक्के छूट रहे थे। फिर यकायक युद्ध के प्रवाह की दिशा बदल गई। ऐसा क्यों हुआ, नहीं कहा जा सकता, परन्तु असुरों के पाँव उखड़ गए। विजय की माला ने देवों के गले को सुशोभित किया।

ऐसे अवसर पर देवलोक में हर्षोल्लास का होना तो स्वाभाविक था। परन्तु इतना ही नहीं हुआ, वे लोग गर्वोन्मत्त हो उठे। प्रत्येक देव का यह विश्वास था कि आज की विजय मेरे ही पराक्रम और रण-कौशल का परिणाम है। जहाँ देव-कुल के सभी व्यक्तियों की यह अवस्था थी, वहाँ देवराज इन्द्र का क्या कहना था !

विजय को मनाने के लिए बड़े धूमधाम से समारोह किया गया। दरबार सजाया गया। बीच में ऊँचे मंच पर इन्द्र का सिंहासन था। नीचे यथापद, यथास्थान, अन्य देवगण बैठे। अप्सराओं और गन्धर्वों ने प्रशस्ति-पाठ किया। नृत्य और गान से सभा-मण्डप गूँज उठा।

और ऐसे ही अवसर पर एक विचित्र बात हुई। सभा-मण्डप के सामने यकायक एक यक्ष प्रकट हुआ। यक्ष कहने का तात्पर्य यह है कि उसका कोई वर्णन नहीं हो सकता। किसी ने इसके पहले वैसी वस्तु कभी देखी न थी। तेज पुंज था, जिस पर आँख ठहर नहीं सकती थी। न आकृति का अटकल

लगता था, न आकार का। स्थाणुवत् अपनी जगह पर स्थिर थी, किन्तु ऐसा लगता था कि उसकी निश्चलता अपने में विश्व की सभी गतियों को सँजोये हुए है।

सभा में सन्नाटा छा गया। विनोद और उल्लास की जगह विस्मय और कुतूहल ने ली।

इन्द्र ने अग्नि को आदेश दिया कि जाकर देखो, यह क्या और कौन है। ठीक भी था, अग्नि को जातवेदा और विश्ववेदा कहते हैं। यह सबकुछ जानते हैं, सबकुछ जान सकते हैं। अग्नि यक्ष के पास गए। उसने पूछा, तुम कौन हो? उनको यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा। कोई ऐसा भी हो सकता है, जो अग्नि को न जानता हो? नाम बताने पर उसने पूछा, तुम्हारा वीर्य क्या है? तुम क्या कर सकते हो? यह और भी बड़ा अपमान था, पर इसे घोंटकर उन्होंने अपनी दहन-शक्ति का परिचय दिया। तब एक तृण उनके सामने आया और उनसे कहा गया, इसे जलाओ। यह तो अपमान की पराकाष्ठा हो गई। परन्तु आश्चर्य, घोर आश्चर्य ! अग्नि स्वयं तो क्रोध से जले जा रहे थे, पर उस तिनके को न जला सके। लज्जा से पानी-पानी हो गए। सिर नीचा किए लौट आए।

तब पता लगाने के लिए मरुत भेजे गए। उनका व्यक्तित्व देव-कुल में निराला है, सामूहिक सत्ता का अद्भुत निदर्शन है। उनचास मरुत हैं, पर सब एक साथ रहते हैं। उनचास शरीर हैं और एक आत्मा। इस सामूहिक व्यक्ति को ही वायु और मातरिश्वा कहते हैं। इनका पराक्रम प्रसिद्ध है। देवलोक के सेनापति हैं। किसी युद्ध के छिड़ने पर यह माँग होती है कि **'देवसंगगम अभिभंजतीनाम् मरुतो यन्तु अग्रे'** अर्थात् शत्रुओं का

विनाश करती हुई देव-सेनाओं के आगे मरुत चलें। पर आज मरुत का वीर्य भी विफल हुआ। यक्ष ने उनसे एक तिनका उड़ाने को कहा। पूरा बल लगाकर भी वह उसे हिला न सके। उनको भी लज्जित होकर लौटना पड़ा।

देव-सभा क्षुब्ध हो उठी। हमारे असुर-विजयी योद्धाओं को परास्त करनेवाला यह कौन है? यदि इसने हम पर आक्रमण कर दिया तो हमारा क्या होगा? धीरे-धीरे आश्चर्य की जगह चिन्ता और भय का वातावरण बन गया। इन्द्र ने देखा कि स्थिति को और बिगड़ने देना ठीक नहीं है। यों तो जाँच करने के लिए किसी दूसरे को भेज सकते थे। उनके पास ही उनके छोटे भाई विष्णु बैठे थे, जिन्होंने अपने शौर्य से उपेन्द्र की उपाधि प्राप्त की थी। पर इस अवसर पर उन्होंने स्वयं ही जाना उचित समझा।

देवराज यक्ष के पास पहुँचे, पर वह पीछे हट गया। वह और आगे बढ़े, पर वह फिर पीछे हटा। इस प्रकार वह बढ़ते गए, यक्ष हटता गया। कबतक यह खेल चला, नहीं कह सकते, परन्तु इन्द्र चलते-चलते थक गए। वह कहाँ पहुँचे, इसका उन्हें ज्ञान नहीं था, परन्तु उनका अपना लोक तो न जाने कब छूट चुका था। एक समय था जबकि वह समझते थे कि मैं इस विश्व के कोने-कोने को जानता हूँ, इसका स्वामी हूँ, परन्तु अब उनको अपनी भूल का परिचय हो गया था। विश्व की कोई सीमा नहीं है, जिसको वह अबतक विश्व समझते थे, वह तो एक बहुत छोटा, अणु के समान नगण्य, टुकड़ा है। असंख्य प्रजापति, रुद्र, विष्णु हैं, असंख्य इन्द्र हैं। वह यक्ष का पीछा करते यहाँ तक आए। यहाँ कहाँ? जहाँ दिशाओं का कोई संकेत

न हो वहाँ आगे, पीछे, ऊपर, नीचे कहने का क्या अर्थ होगा? और फिर सहसा यक्ष आँखों से ओझल हो गया।

इन्द्र जब यक्ष के पीछे चले थे तब तो उनके मन में क्रोध था, पर वह तो न जाने कब का चला गया था। अब तो वह विनम्र जिज्ञासु भावना से उसकी ओर बढ़ रहे थे। इस अपार, अथाह सागर में वही एक सहारा था। उसके अन्तर्हित होने से इन्द्र अधीर हो उठे, नैराश्य के गम्भीर गर्त में डूब-से गए और इसी अवस्था में उनको उमा हैमवती के दर्शन हुए।

उस देह को स्त्री का शरीर ही कह सकते हैं। लावण्य, तेज, वीर्य, ऐश्वर्य और ज्ञान की मर्यादा, उसकी छवि को लेखनी या तूलिका की रेखाओं में कौन बाँध सकता है ! इन्द्र का अभिमान गलत हो चुका था। चित्त के सब कषाय भस्म हो चुके थे। उन्होंने उस विग्रह को साष्टांग प्रणाम किया।

उमा ने उनको बतलाया कि असुरों पर विजय पाकर तुम लोग दर्प से फूल उठे थे। ऐसी मनुवृत्ति लेकर लोकसेवा नहीं की जा सकती। तुम मनुष्यों का कल्याण करना चाहते हो, परन्तु दुरभिमान तुमको यह भी न करने देता। अतः तुमको शिक्षा देने के लिए ही ब्रह्म यक्ष रूप से प्रकट हुआ। तुमने स्वयं यह अनुभव कर लिया कि तुम्हारा अपना वीर्य तुच्छ है। तुम जो कुछ करते और कर सकते हो, वह ब्रह्म के आश्रय से। धर्म की विजय हो, इसलिए ब्रह्म ने तुमको आविष्ट किया। उसी के बल से तुम लोगों की विजय हुई।

इस प्रकार का ज्ञान तो इन्द्र की बुद्धि में स्वतः उदय हो चला था। यक्ष को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जो अनवरत प्रयास किया, उसने उनके अन्तःकरण से अविद्या के कल्मष

को बहुत-कुछ दूर कर दिया था। अब तो उनको ब्रह्म को जानने की उत्कट अभिलाषा थी। उनको उत्तम अधिकारी जानकर देवी ने इस विषय की शिक्षा भी उनको दी। वस्तुतः 'ब्रह्म' शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से परे है। यक्ष रूप और शब्द युक्त था। अतः वह ब्रह्म का प्रतीक मात्र था। देवगण की बुद्धि ऐसे प्रतीक को ही ग्रहण कर सकती थी। परन्तु ब्रह्म की खोज में इन्द्र ने कठिन तप किया था, सब इच्छाओं का परित्याग किया था। अतः उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी। कहा भी है :

आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्ययाऽमृतमश्नुते।

आत्मा से (चित्त को एकाग्र करके आत्मचिन्तन से) वीर्य प्राप्त होता है, वीर्य से विद्या (आत्मज्ञान) की प्राप्ति होती है, आत्मज्ञान से अमृत (मोक्ष) का अनुभव होता है।

इस प्रकार देवों में इन्द्र पहले ब्रह्मवेत्ता हुए। उन्हें जो ज्ञान मिला, वह अनुभवगम्य है, शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

क्षणभर में इन्द्र फिर देवसभा में पहुँच गए। उनके मुख पर जो तेज था, वही उस ज्ञान-रूपी अपूर्व निधि की साक्षी दे रहा था, जो उनको प्राप्त हुई थी। उसे तो वह सब देवों को नहीं बाँट सकते थे, परन्तु उन्होंने देवों को यह समझा दिया कि हमारा अभिमान मिथ्या था। जो सत्ता इस विश्व का आधार है, वह धर्म का क्षय नहीं देख सकती। हम लोग तो निमित्त मात्र हैं। हमारे द्वारा वह स्वयं काम करती है। उसी के बल से बलवान होकर हमने असुरों को पराजित किया था।

अभिमान के दूर हो जाने से देवगण अपने कर्तव्यों के पालन करने में अधिक समर्थ हुए।

इन बातों का समाचार दूर-दूर फैला। मनुष्य-समाज में भी

यत्र-तत्र चर्चा हुई। एक बार अम्भृण ऋषि के आश्रम पर सत्संग के लिए दूर-दूर से ऋषि-मुनि एकत्र हुए। धर्म और अध्यात्म-विषयक वार्तालाप के प्रसंग में ऊपर की घटना की बात छिड़ गई।

किसी ऋषि-कुमार ने यह प्रश्न किया कि ज्ञान की उपदेष्टी उमा क्या वस्तुतः स्त्री-स्वरूपा है? इसका उत्तर योगिराज श्वेताश्वर ने इस प्रकार दिया :

त्वं स्त्री त्वं पुमानसित्वं कुमार उत वा कुमारी

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है या तू कुमारी है? इसका तात्पर्य यह है कि न वह पुरुष है, न स्त्री है, न षंढ है, न वृद्ध है, न युवा है, न बाल है। परन्तु इन्द्र को दीक्षा देते समय विद्या के रूप में आई थी इसके उपयुक्त स्त्री का विग्रह ही हो सकता था। इसके बाद ही यह प्रश्न उठा कि वह थी कौन? जिस यक्ष को उसने ब्रह्म बताया था, उससे भिन्न थी या अभिन्न? इन प्रश्नों से सम्बद्ध विचार-विनिमय में कई महात्माओं ने भाग लिया। सबका मन्तव्य प्रायः एक ही था।

यदि यक्ष ब्रह्म था तो उमा उसकी शक्ति थी और शक्ति शक्तिमान् एक-दूसरे से अभिन्न होते हैं। इसीलिए ब्रह्म को अर्द्धनारीश्वर उपमा दी जाती है। किसी विद्वान ने उपस्थित मुनि-संघ को परमेष्ठी ऋषि की इस उक्ति की स्मृति दिलाई :

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।

सृष्टि के आदि में वह अकेला अपनी स्वधा नामक शक्ति के साथ बिना हवा के सांस ले रहा था। उसके सिवाय और कुछ नहीं था।

कुछ महात्माओं ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि

देवासुर-संग्राम उस संघर्ष का बाहरी प्रतीक मात्र है, जो प्रत्येक मनुष्य में निरन्तर होता रहता है। चित्त की वृत्तियाँ अन्तःकरण की सन्तति हैं—सद्वृत्तियाँ देवस्थानीय और असद्वृत्तियाँ असुररूपा हैं। इनमें संघर्ष होता रहता है। कभी एक का पल्ला भारी होता है, कभी दूसरे का; परन्तु मनुष्य निराश्रय, निःसहाय नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा के हिरण्यगर्भ रूपी अन्तःकरण में भावी जगत विचाररूप से चित्रित हुआ। उसी समय उसके संचालन के लिए ऋत और सत्य नाम से उन अटल नियमों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके सम्बन्ध में कहा गया है—'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' अर्थात् प्रथम धर्म हुए। जब कुवृत्तियों का बल बहुत बढ़ता प्रतीत होता है तो धर्म की शक्ति भी उदीप्त होती है। परन्तु कभी-कभी मनुष्य अपने मनोबल, अपने चरित्र पर गर्व करने लगता है। तब उसे ठोकर खानी पड़ती है। जो सत्पात्र है, उसके चित्त में शक्ति के मूल स्रोत को जानने की इच्छा जागती है, संवेग बढ़ता है। अन्य बातों की ओर से विरति हो जाती है। वह समाधि की भूमिकाओं का आरोहण करता है और एक दिन उसके हृदयाकाश में प्रज्ञा का उदय होता है।

गोष्ठी में बातचीत का स्तर और सूक्ष्म होता गया। अब विचारणीय विषय यह हो गया कि ब्रह्म है क्या? एक ओर तो यह माना जाता है कि ब्रह्म सत्तामात्र, चेतनामात्र, निरुपाधि पदार्थ है। उसका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं हो सकता, इसलिए नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं) कहा जाता है। तब फिर ब्रह्म धर्म के संरक्षण में सक्रिय भाग कैसे ले सकता है और यक्ष, उमा, हैमवती या अन्य रूप को कैसे धारण कर सकता है?

सभासदों ने सनत्कुमार से इस शंका के समाधान की प्रार्थना की। वह उपस्थित सभी लोगों में तपोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध थे। उन्होंने जिज्ञासु वृन्द के अनुरोध को स्वीकार कर लिया। उनके उपदेश का सारांश यह था :

वस्तुतः ब्रह्म एक है। सत्तामात्र और चेतनामात्र होने से वह बुद्धि और वाणी के लिए अगोचर है, इसीलिए उसके लिए 'नेति-नेति' कहा जाता है। जो कुछ है, वह ब्रह्म है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'** परन्तु ब्रह्म का एक और रूप भी है, अपर या मायाशबल ब्रह्म। अविद्या के कारण उसकी प्रतीति होती है। वह चेतन है, सब शक्तियों का भण्डार है, सर्वज्ञ है। जीवन अपने में अल्प शक्तिमत्ता और अल्पज्ञता का आरोप करता है। इस अपर ब्रह्म से ही ऋत और सत्य का उद्गम हुआ है, यही धर्म की रक्षा करता है, इसी से देवों और दैवी वृत्तियों को बल मिलता है। इसी का परमात्मा संज्ञा है। चित्त के मल के घुल जाने पर, अविद्या के नाश होने पर, जीव और ईश का भेद मिट जाता है और जीवन शुद्ध ब्रह्म से अपने अभेद का अनुभव करता है। यही मोक्ष है। मोक्ष कोई ऐसा गुण नहीं है, जो कहीं बाहर से लाकर जीवन में जोड़ना हो। ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण जीव सदा मुक्त है, परन्तु अज्ञानवश अपने को बद्ध मानता है। अज्ञान के दूर होते ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

उस सभा में अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् भी उपस्थित थीं। वह वचन से ही ब्रह्मवादिनी प्रसिद्ध थीं। निरन्तर योगाभ्यास और आध्यात्मिक चिन्तन में रत रहती थीं। सनत्कुमार का प्रवचन समाप्त होते ही लोगों की दृष्टि सहसा वाक् की ओर

गई। वह पद्मासन से बैठी हुई थीं। आँखें खुलीं, भीतर की ओर खिंचीं। चेहरा उदीप्त, अधर स्फुरित। फिर उनके मुँह से मधुर और गम्भीर स्वर में ये शब्द निकले :

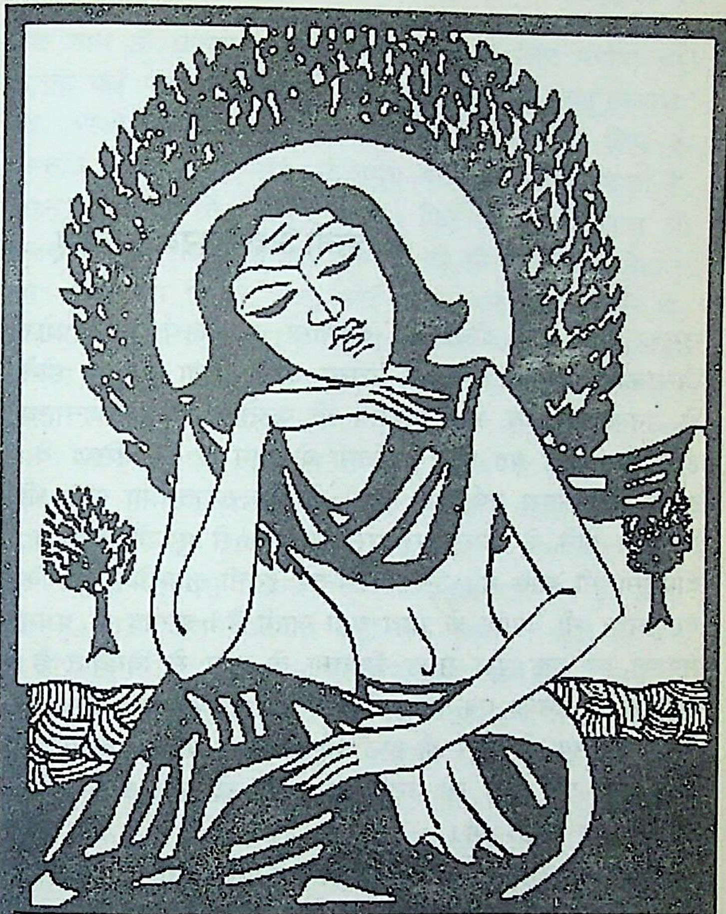
यं कामये ततमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम।
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।

मैं जिस पर प्रसन्न होती हूँ, उसको उग्र बनाती हूँ, उसको युद्ध में विजयी योद्धा बनाती हूँ। अग्नि, वायु, विष्णु, रुद्र, इन्द्र ये सब निमित्त मात्र हैं। मैं इनसे काम लेती हूँ, शरीर इनके होते हैं, स्फूर्ति और मर्यादा की रक्षा का कार्य मेरा सिद्ध होता है।

जिस पर प्रसन्न होती हूँ, उसको ब्रह्म बनाती हूँ, रचना करने का दायित्व उसको सौंपती हूँ और तदनुकूल शक्ति से उसे सज्जित करती हूँ तथा वेद, दिव्यज्ञान से उसे सम्पन्न करती हूँ।

अपने कृपापात्र को ऋषि बनाती हूँ, समय-समय पर लोक-कल्याण के हेतु उसके द्वारा मंत्रों को अवतरित करती हूँ।

मेरा निवास इस विश्वरूपी समुद्र के जल के भीतर है। जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठा करती हैं, परन्तु समुद्र अचल प्रतिष्ठ है; न घटता है, न बढ़ता है, एक-सा रहता है; उसी प्रकार यह जगत्, यह परिवर्तनशील विश्व, नानारूपों में दीख पड़ता है, पर इन सब रूपों के भीतर मैं स्थाणु, एकरसा हूँ। जिस प्रकार रस्सी में दीख पड़नेवाला सर्प मिथ्या है, पर उसका आधार, रस्सी, सत्य है, उसी प्रकार यह जगत् मिथ्या है, पर इसका आधार मैं सत्य हूँ। अज्ञान से ही रस्सी में सर्प की और मुझमें जगत् की प्रतीति होती है।



ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् ...

५ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्...

उनका नाम था दीर्घतमा। दीर्घतमा का अर्थ हुआ घोर अन्धकार से युक्त। यों तो उचथ्य और ममता का पुत्र होने से उनको औचथ्य और मामतेय भी कहते थे, परन्तु जन्मान्ध होने के कारण वह प्रायः दीर्घतमा के नाम से ही प्रसिद्ध थे। इसके कई सहस्र वर्ष पीछे हिन्दी के एक ख्यातनामा कवि भी जन्मान्ध होने के कारण सूरदास के नाम से पुकारे जाते थे। दीर्घतमा भी कवि थे। उनकी रचनाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि वह आज भी आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक पूरा सूक्त दीर्घतमा के नाम से विख्यात है। सूरदास से उनका एक और बात में भी सादृश्य था। दोनों ही सिद्ध उपासक थे। सूर के इष्ट श्री कृष्ण थे और दीर्घतमा के अश्विद्वय, पर दोनों को अपने इष्ट देवों के प्रति अगाध प्रेम और अटूट श्रद्धा थी।

दोनों का सादृश्य प्रायः यहीं समाप्त हो जाता है। सूरदास ने तो अपने को गृहस्थी के झंझट से दूर रखा, परन्तु दीर्घतमा ने गृहस्थाश्रम को अपनाया। वह उन लोगों में थे–'जे बूड़े सब अंग' और उनका प्रारब्ध तो जैसे उनके पीछे हाथ धोकर पड़ गया। उनको तो धर्मपत्नी मिलीं, उनका नाम था प्रद्वेषी।

यह नाम ही साधारण मनुष्य को डराने के लिए पर्याप्त था। उनके कई पुत्र हुए। ब्राह्मण लोग यजमानों को 'बहुपुत्रलाभः' का आशीर्वाद दिया करते हैं, परन्तु दीर्घतमा के लिए तो सन्तति अभिशाप हो गई। कलियुग को बुरा बताया जाता है, परन्तु दीर्घतमा तो सतयुग में थे। फिर भी उनके साथ जो व्यवहार किया गया, वह कलियुगवालों को भी लज्जित करनेवाला था। अन्धे तो थे ही, स्वयं कोई उद्यम कर नहीं सकते थे। लड़कों पर ही उनके भरण-पोषण का भार था। इससे ऊबकर उनको जल में फेंक दिया गया, पर वह किसी प्रकार निकल आए। तब आग में झोंक दिया गया। फिर भी बच गए। तब त्रैतन नाम के एक दास ने उन पर शस्त्र से प्रहार किया। घायल तो हो गए, परन्तु मरे फिर भी नहीं। दीर्घतमा का यह कहना है कि यह सब अश्विनों की कृपा थी। बराबर बचते तो गए, परन्तु ऐसे निरन्तर दुर्व्यवहार का परिणाम तो होना ही था। शरीर इतने आघात कहाँ तक सहता ! थोड़े ही वय में जीर्ण हो गए। ''**दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे**,'' मामतेय दीर्घतमा दसवें युग में बुड्ढे हो गए। एक युग पाँच वर्ष का होता है, इसका अर्थ यह है कि पचासवें साल में बूढ़े हो गए।

मनुष्य का जीवन सदा एक-सा नहीं रहता। कभी-कभी घटना-चक्र के आघात से उसको नया मोड़ मिल जाता है। दीर्घतमा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। भांति-भांति के कष्टों को सहते हुए उनके हृदय में वैराग्य अँकुरित हुआ। आखिर मैं यह सब क्यों सह रहा हूँ? जिन पुत्रों ने मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया है, उनके प्रति मुझे ममता क्यों है? इन यातनाओं को सहकर मैंने किस पुण्य का संचय किया है, जो

शरीर छूटने के बाद मेरे काम आएगा? यदि गृहस्थ आश्रम में रहकर कभी कुछ सुख मिला भी हो तो वह सुख अस्थिर निकला। जिस फल को मीठा समझकर खाने का प्रयास किया, वह चलते-चलते कड़ुवा हो गया। मैंने प्रशस्त ब्राह्मण कुल में जन्म लिया, अपने को अश्विनों का भक्त समझता हूँ और उनकी मेरे ऊपर कृपा भी है, परन्तु मैंने उनसे सिवाय संसारी बातों के कभी और कुछ नहीं माँगा। उनकी कृपा से पारलौकिक ज्ञान भी प्राप्त हो सकता था, पर मैंने कभी उसकी इच्छा नहीं की। नित्य प्रातः-सायं, संध्या करता हूँ और उस मंत्र को पढ़ता हूँ, जिसमें यह प्रार्थना की गई है :

अदीनाः स्याम शरदः शतम्

अपनी पूरी आयु अदीन रहूँ, परन्तु मैं शुकवत् इन शब्दों को दोहरा जाता हूँ। कभी इनके अर्थ पर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह है कि सदैव दीन रहा, दूसरे के आश्रित रहा, यह सब किसलिए? यह सब सोचते-सोचते उसको अपने ऊपर ग्लानि होने लगी और ग्लानि के साथ वैराग्य-भावना बढ़ने लगी। एक और बात भी थी। उसके चारों ओर बड़े-बड़े महापुरुष रहते थे, जिनके तप और ज्ञान की चातुर्दिक ख्याति थी। उनके पवित्र जीवन और चरित्र का आदर समाज में सभी करते थे। जब दीर्घतमा अपने साथ उनकी तुलना करते थे तो उनका सिर लज्जा से झुक जाता था। इसके साथ ही उनके चित्त में उन लोगों के पथ पर चलने की इच्छा भी तीव्र हो जाती थी। यही सब सोचते-सोचते एक बार उनके मुँह से ये शब्द निकले :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

इस जगत् में जहाँ मैं हूँ, वहीं वामदेव जैसे तपस्वी विद्वान् भी हैं। आत्मा की दृष्टि से हममें कोई अन्तर नहीं है, परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति वासनाओं के वशीभूत होकर अच्छे-बुरे कर्मों में रत रहते हैं, सुख-दुःख भोगते रहते हैं। सच तो यह है कि जिसको हम सुख मानते हैं, वह भी प्रकारान्तर से दुःख ही है। दूसरी ओर वे महात्मा लोग हैं, जो जगत् में रहते हुए भी इस प्रकार निर्लिप्त हैं, जैसे जल में कमल। हमारी उपमा ऐसे दो पक्षियों से दी जा सकती है, जो एक-दूसरे के सजातीय हैं और समानधर्मा हैं तथा एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, परन्तु उनमें से एक उस वृक्ष के खट्टे-मीठे फलों को खाता रहता है, दूसरा शान्ति से बैठा रहता है। एक भोगों का दास है, दूसरा आत्माराम।

इस प्रकार सोचते-सोचते उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए। भोगों से विरत होकर उनके चित्त में आत्मा विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वह आत्म-स्वरूप के अन्वेषण में लगे। काल पाकर उन्होंने अपने चित्त के सारे कषायों को योगाग्नि से दग्ध करके असम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची भूमिका में प्रवेश किया और एक दिन ऋषि संघ में इस तथ्य का उद्घोष किया :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिदेवा अधिविश्वेनिषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमेसमासते॥

वेदों का समुच्चय अर्थात् समस्त ज्ञान का भण्डार, सत्य का परम निधान, उस जगह है, जहाँ इस जगत् से ऊपर सारे

देवगण निवास करते हैं, अर्थात् विश्व का संचालन करनेवाले समस्त देवता एकीभूत होकर विलय को प्राप्त होते हैं और जहाँ से ही उन सबका उद्गम हुआ है। जिसको उस परम व्योम, निर्विकल्प समाधि की उच्चतम भूमि का परिचय प्राप्त है, वह स्वरूपस्थ होकर परम आनन्द का अनुभव करता है। जो उसको नहीं जानता, उसका वेद-मंत्रों का उच्चारण करना निष्फल प्रयास है।

प्रारब्ध के अनुसार शरीर छोड़ने पर दीर्घतमा परम मोक्ष पद को प्राप्त हुए।

असुर्या नाम ते लोकाः...



६ असुर्या नाम ते लोका...

वह सोच रहा था। यह कोई नई बात नहीं थी। वह बहुधा चारों ओर से चित्त को हटाकर सोचा करता था। कभी-कभी तो ऐसा लगता था कि वह सो गया है। लोगों से घिरे रहकर भी इस प्रकार एकान्त का अनुभव करने में उसको बड़ा आनन्द आता था।

इस समय वह कमरे में लेटा हुआ है। रात का समय है। बिजली का लट्टू प्रकाश दे रहा है। दीवार पर घड़ी टनटन कर रही है। सिरहाने छोटी मेज पर दवाइयाँ रखी हैं। कमरे में छोटे-बड़े कई व्यक्ति बैठे हैं। सब या तो चुप हैं या बहुत धीरे-धीरे बोल रहे हैं। इनमें से कुछ तो उसको अच्छे लगते हैं, शेष की ओर से वह प्रायः उदासीन है। इतना ही नहीं, कुछ से तो उसको चिढ़ है। वह जानता है कि लोभवश वह उसके प्रति सौहार्द दिखलाते हैं।

वह इधर कई दिनों से रुग्ण है। सारे शरीर में व्यथा है। दुर्बलता इतनी है कि अपने आप करवट तक नहीं बदल सकता। नगर के सभी बड़े डाक्टर देख रहे हैं। कुछ लोगों का यह भी परामर्श है कि किसी अच्छे वैद्य को कल बुलाया जाए।

साथ में कुछ पूजा-पाठ की भी व्यवस्था है। उसके हाथ से कुछ दान-पुण्य भी कराया गया। उसको ऐसी बातों पर कभी

विश्वास नहीं था, परन्तु लोगों की बात टालता नहीं था। वह सोचता था कि मैं ऐसा क्यों करता हूँ। एक बात तो यह है कि मैं नहीं चाहता कि लोग मुझे कंजूस समझें, पर इतनी ही बात नहीं है। ढूँढ़ने पर उसे अपने चित्त में एक छिपा चोर मिला। उसने पूजा-पाठ और देवी-देवता पर कभी विश्वास नहीं किया, परन्तु अब बीमारी में कभी-कभी कुछ शंका उठ जाती थी। आखिर मेरे अविश्वास का कारण क्या है?

यह ठीक है कि इनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु अनस्तित्व का भी क्या प्रमाण है? करोड़ों मनुष्य इन बातों को मानते हैं, क्या सब मूर्ख हैं? लोग कहते हैं कि पूजा-पाठ से भगवान् प्रसन्न होते हैं। मुझे कभी इस ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं थी, आवश्यकता भी नहीं थी। मैंने अपने लिए जो लक्ष्य बनाया था, उसे प्राप्त किया। रुपया कमाया, समाज में प्रतिष्ठा पाई, सरकार ने सम्मान किया। लोग बीसों कामों के लिए मेरी खुशामद करते हैं। लड़के-लड़कियों के ब्याह हुए, लड़के भी मेरे मार्ग पर चल रहे हैं। उनका भी भविष्य उज्ज्वल है। और भगवान् प्रसन्न होकर क्या दे देते? आगे बढ़ने, ऊपर उठने में कुछ बाधाएँ भी आईं, कुछ लोगों ने विरोध भी किया, पर सबको मुँह की खानी पड़ी। उसकी ठोकरों ने सबको चूर कर दिया। वह जानता था कि सैकड़ों घर उजड़े। उसके क्षत-विक्षत प्रतियोगियों के आर्तनाद की याद से उसको अब भी हँसी आ जाती थी। न जाने, कितनी बार उससे दया की भीख माँगी गई, पर मान और वैभव का महल दया की नींव पर भी कभी खड़ा हुआ है। दुर्बल को अपनी दुर्बलता का दण्ड सहना ही होगा।

परन्तु आजकल घूम-फिर कर यह विचार मन में आ ही जाता था कि क्या उसने जो कुछ किया, वह सब ठीक किया। यदि कुछ लोगों पर दया दिखलाकर उनके आशीर्वाद ले लेता तो कैसा होता? और हाँ, यदि कोई देवी-देवता हों, यदि ईश्वर हो, तो क्या होगा? क्या उसका आचरण उनको बुरा लगा होगा? क्या कभी उनका सामना हो सकता है? क्या कभी उससे व्यवहार की आलोचना भी हो सकती है? दण्ड भी मिल सकता है?

दण्ड कौन देगा? उसने यह सुन रखा था कि मरने के बाद पुण्य-पाप, भले-बुरे का लेखा-जोखा होता है। स्वर्ग-नरक की भी चर्चा सुन रखी थी, पर एक तो ये सब बातें उसके लिए कोरी कहानियाँ थीं, भोले-भाले लोगों को बहकाने के लिए बहाना थीं। दूसरे, इनका सम्बन्ध मरणोत्तर काल से था। वह यह तो मानता था कि एक दिन उसे भी मरना होगा, परन्तु मृत्यु की बात को वह अपने मस्तिष्क से दूर ही रखता था। फिर भी आजकल न जाने क्यों, यह विचार बार-बार आता था। सम्भवतः उसकी लम्बी रुग्णावस्था ने मस्तिष्क को भी कुछ दुर्बल कर दिया हो।

उफ़ मृत्यु ! क्या सचमुच मरना ही होगा? क्या यह सब, घर, रुपया, बाग, सवारी, कुटुम्बी, छोड़ना होगा? एक-एक का चित्र उसके सामने आता था। प्रत्येक चित्र से कण्ठ रुंधा जाता था। अच्छा, यह सब छूट जाए, तब फिर आगे क्या होगा? माथे पर पसीना आ रहा था, हाथ-पाँव ठण्डे हुए जा रहे थे। क्या कोई लम्बी यात्रा करनी होगी? कहाँ जाना होगा? वहाँ क्या अनुभव होगा? शरीर तो छूट जाएगा, फिर यात्रा कैसे होगी?

वह घबरा उठा। जिस शारीरिक व्यथा को वह क्षणभर के लिए प्रायः भूल-सा गया था, वह सौगुनी तीव्रता से एकाएक

लौट आई। वेदना असह्य-सी हो गई, पर क्षणभर के ही लिए। सहसा एक झटका-सा लगा, जैसे किसी ने जोर से खींचा हो। फिर वेदना, पीड़ा शान्त हो गई। उसको यह आश्चर्य जरूर हुआ कि मुझ रोगी को इस प्रकार कौन धक्का दे रहा है!

गहरा अन्धेरा था। क्या लट्टू की ज्योति बुझ गई? पर कमरे में कोई हलचल नहीं है, बत्ती ठीक करने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। यह क्या? तब ऐसा लगा कि वह चारपाई पर नहीं है। फिर वह है कहाँ और कैसे टिका है? अनेक रंग-बिरंगी लहरियाँ उसको चारों ओर से घेरे हुए हैं। इनके स्पर्श में शीतलता है, जलन है, हल्कापन है, गुरुत्व है। वे इसे झकझोर रही हैं। एकाएक उसे विचार आया, यह सब क्या हो रहा है? क्या वह झटका, जो मुझे लगा था, मृत्यु का था? क्या मैं सचमुच मर गया? क्या मैं अब उस परलोक में पहुँच गया, जिसका नाम बराबर सुना करता था? यह सोचते ही वह बेहोश हो गया।

कुछ देर में उसने संज्ञा लाभ की। देखा तो उसका शरीर भूमि पर लेटा हुआ है। उसको घेरकर कुछ परिचित, कुछ अपरिचित, व्यक्ति बैठे हुए हैं। वह स्वयं उस शरीर पर मंडरा-सा रहा था। उसके प्रति मोह था, वह अपना था। एक प्रकार का शरीर तो अब भी उसके पास था। वह देख सकता था, सुन सकता था, छू सकता था; पर दूसरे लोगों को उसके अस्तित्व का ज्ञान नहीं था। वह उनको प्रभावित करता चाहता था, पर सब लोग अपनी-अपनी धुन में इतने व्यस्त थे कि किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। इस बात से उसको और भी घबराहट हो रही थी। सबके बीच में था, पर दूसरों के लिए उसका होना न होना बराबर था!

लोग उसके शरीर को लेकर चले। साथ-साथ वह भी चला।

थोड़ी देर में उस परिचित स्थान पर पहुँचे, जिसे श्मशान कहते हैं। वहाँ क्या होगा, वह जानता था। सोचकर काँप उठा। थोड़ी ही देर में उसका इतने दिनों का साथी, इस दृश्य जगत् में उसका एकमात्र अपना, सदा के लिए नष्ट कर दिया जाएगा।

जो होना था, वह हुआ। धू-धू करके शरीर जल उठा, फिर कुछ हड्डियों और राख के ढेर के सिवाय कुछ न रहा। उसकी सारी इच्छाओं की पूर्ति का उपकरण, उसके स्नेह का अनन्य पात्र, बात-की-बात में न रहा। वह फिर संज्ञा खो बैठा।

घोर अन्धकार। निशीथ से आवृत्त निशीथ, तमिस्रा से व्याप्त तमिस्रा। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, जुगनू--प्रकाश का कहीं कोई स्रोत नहीं। यों अन्धेरे में रहने के बाद थोड़ी देर में आँखें अभ्यस्त हो जाती हैं और कुछ-कुछ दीख पड़ने लगता है, पर यहाँ तो कुछ है ही नहीं। दीख क्या पड़े? और फिर आँखें भी तो नहीं हैं, देखे कौन और कैसे? और वह अकेला है। अन्धकार के लोक में अकेला चला जा रहा है। चला जा रहा है। चलने का साधन कौन-सा है? पैर तो हैं ही नहीं। और फिर जब यहाँ और वहाँ का भेद न प्रतीत हो, दिशा का कोई सूचक न हो, तो फिर चलना कैसे माना जाए? हाँ, विचारों की, चैत्त विकारों की, अटूट परम्परा जारी है। एक विचार-तरंग उठती है, तिरोहित होती है, उसकी जगह दूसरी लेती है। तो यों कह सकते हैं कि वह चल तो रहा है, परन्तु दिक् में नहीं, केवल काल में। पर उसकी यह यात्रा भी विलक्षण है। काल के क्षेत्र में नई अनुभूतियाँ होती रहती हैं, लेकिन उसके चित्त की स्मृति के सिवाय अन्य सब वृत्तियाँ विलीन हो गई हैं। कोई नई अनुभूति नहीं, केवल पुरानी अनुभूतियाँ सामने आती हैं। अनागत और वर्तमान दोनों सिमटकर अतीत हो गए हैं।

अकेलापन उसके लिए कोई नई बात न थी, पर इस अवस्था का अकेलापन कुछ नए ढंग का था, डरावना था; क्योंकि उसके अन्त होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती थी। स्मृति के नए-नए पटल खुलते जाते थे और सब पर साथ अंकित थे—मनुष्य, पशु, पक्षी, कुछ अच्छे और प्रिय, कुछ बुरे और अप्रिय; पर जैसे भी साथी थे, समय काटने में सहायक थे। पर अब, न ऐसा कोई है और न स्यात् होगा। यह सब सोचता जाता था और साथी के लिए तड़प बढ़ती जाती थी। चाहे कोई हो, एक से दो तो हो जाएँ! सुना था, मरने पर स्वर्ग या नरक जाना होता है। स्वर्ग न सही, नरक में भी तो साथी मिलते हैं। लोग कहते थे कि यमदूत ताड़न करते हैं, मारते-काटते हैं। ये बातें कष्टदायक होंगी, पर अब तो अकेलापन असह्य हो रहा है। यमदूत ही दिखाई पड़ जाए। चाहे जो करें, परन्तु पास में कोई हो तो उफ, इस अकेलेपन से कैसे छुटकारा मिले?

शरीर नहीं रहा, परन्तु शरीर को प्रेरणा देनेवाली प्रवृत्तियाँ ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। नहीं-नहीं, पहले से बहुत तीव्र हो गई हैं। तुष्टि के साधनों के अभाव ने उनको और प्रखर बना दिया है। न जाने कहाँ-कहाँ से वासनाओं के बादल उमड़ रहे हैं। स्मृति वासना की आग को और प्रज्वलित कर रही है। पहले भी वासनाएँ सताती थीं, उनकी तृप्ति के उपाय किए जा सकते थे, उनका उपशम हो जाता था। अब उपाय कहाँ? उपशम कैसे हो? भोग से प्राप्त सुख की स्मृति भोग की कामना को उत्कटतर बना रही थी। यह अतृप्ति, यह बेबसी, यह कभी न बुझनेवाली ज्वाला, यह असह्य व्यथा ! सुना करता था कि मरने के बाद दूसरे शरीर में जन्म मिलता है। यदि इस समय छोटे-से-छोटे कीड़े का भी

शरीर मिल जाता तो अपार सुख मिलता। स्मृतियाँ विलीन हो जातीं। कुछ साथी मिलते, कुछ वासनाएँ तृप्त होतीं। पर नहीं, मुझे तो नरक के दर्शनों का भी सौभाग्य नहीं मिलनेवाला है। कीड़े-मकोड़े के जीवन में जो सुख है उसकी छाया से भी वंचित हूँ।

कभी-कभी तन्द्रा-सी आ जाती थी, परन्तु विचारों के थपेड़े उसे कब टिकने देते थे ! न जाने स्मृति का यह संचित भण्डार कितना विशाल है ! कैसी-कैसी घटनाएँ सामने आती हैं! इन सबमें मैं कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप से, पात्र रहा था। इनका ताँता टूटता ही न था। मैं पागल को हास्यास्पद समझा करता था, पर अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि पागल का जीवन धन्य है। वह स्मृतियों के बोझ को सिर से फेंककर अपनी कल्पना से निर्मित सुखमय जगत् में रहता है। क्या मैं पागल नहीं हो सकता? भले ही चित्त शून्य हो जाए, पर इन स्मृतियों से तो छुटकारा मिले।

उसने यावज्जीवन अपना ध्यान अपने ऊपर ही केन्द्रित रखा था। उसके लिए समूचे विश्व का नाभिबिन्दु उसका 'स्व' था। पुत्र, कलत्र, मित्र—सब उस 'स्व' के लिए थे। अब वही 'स्व' उसके लिए जंजाल बन गया था, अकेलेपन के रूप में उसको वेष्टित कर रहा था। उसका जगत् अपनी परिधि को संकुचित करके अपने केन्द्र से तद्रूप हो गया था। पर अब तो 'स्व' उसके लिए विष के समान त्याज्य हो रहा था। 'स्व' को सर्वस्व मानकर उसने अपने को इतना छोटा बना लिया था कि दम घुट रहा था। वस्तुतः जिसको उसने विकास समझा था, वह उसका संकोच था। उसने अबतक आत्मा की अभिवृद्धि नहीं की थी, उसका हनन ही किया था।

उसने संकल्पपूर्वक कभी किसी दूसरे की सहायता नहीं की

थी। यदि कभी किसी का काम उसके हाथों बन भी आया तो उसके साथ इतना अनादर और तिरस्कार मिला रहता था कि अमृत भी विष बन जाता था। न जाने कितने घरों को तबाह होते उसने देखा था। न जाने कितने युवकों और युवतियों की उमंगभरी जवानियाँ उसकी आँखों के सामने इच्छाभिघातों के प्रहारों से रोंदी गई थीं। सबके जीवन को उसने ही नष्ट किया हो, यह बात नहीं थी। पर ऐसे बहुत-से अवसर आए थे, जब वह किसी डूबते को सहारा दे सकता था। उसने ऐसा नहीं किया। आज वे धंसी हुई आँखें, वे भूखे कंकाल, किलकारी मारकर उस पर हँस रहे थे। उन अभागों के करुण-क्रन्दन चीत्कार बनकर उसको विह्ल कर रहे थे। जिस चिन्ता में वह घुल-घुलकर मरे थे, उसकी लपटें उसको जला रही थीं। उनके उजड़े घरों के झरोखों से निकला हुआ हवा का एक-एक झोंका उसको हजार-हजार बिच्छुओं की भांति डस रहा था। आखिर उसे विशाल जगत् से मुँह मोड़कर क्या मिला? स्मृतियों का यह भारती बोझ? 'स्व' की अनन्य पूजा का परिणाम यह परिताप? अब तक वह 'स्व' की वृद्धि के लिए जो कुछ कर रहा था, वह आत्मवंचना या आत्मा का हनन था, या...उफ़, यह पीड़ा !

सदा ऐसा नहीं था। कभी उसके चित्त में भी उदार भावनाएँ उठती थीं। वह भी कभी दूसरों की दर्दभरी कहानी सुनकर द्रवित हो जाता था। परन्तु उसके गुरुजन ने, शिक्षकों ने तथा उक्त हितैषियों ने, उसे यह रिखाया कि जीवन संघर्ष है। इस्में दूसरों को पीछे धकेलकर ही आगे बढ़ा जा सकता है। यदि दया का स्वाँग भरना हो तो संन्यास लेना चाहिए। उसको आगे बढ़ने की प्रबल इच्छा तो थी ही और वैभव का

संचय करना ही आगे बढ़ना है, यही उसे बताया गया था। अतः उसने अपनी परहित-मूलक भावनाओं को दबाने का अभ्यास किया। पहले तो इसमें कष्ट हुआ। ऐसा लगता था कि दूसरों के हितों को कुचलना छोटा काम है, ऐसा करके मैं अपने को छोटा बना रहा हूँ। परन्तु अभ्यास से इस कठिन काम को भी वह कर गया। कड़वा घूँट मीठा लगने लगा, आगे बढ़ने में सफलता मिली, इससे हिचक और मिटी। वह दुर्बलों के शव और असहायों के अरमानों के ढेर पर आसीन हुआ। पर था तो यह अपना हनन, और इसका स्थायी पुरस्कार क्या मिला? स्मृतियों का यह बोझ ! मैंने जितनी आशाएँ कुचली थीं, वे सब अब मुझे कुचल रही हैं। मैंने जिनके साथ सहानुभूति नहीं दिखलाई, उनके दुःखों का तो अन्त हो गया, पर मेरे दुःखों का तो अन्त नहीं दीख पड़ता। उफ़ !

मैंने कभी अध्यात्म, दर्शन, धर्म को अपने जीवन में कोई स्थान नहीं दिया। यदि दिया होता तो स्यात् आज इतना निराश्रय न होता। अपने 'स्व' के इन अंगों को हठात् अविकसित रखकर मैंने अपनी पूर्ण आत्माभिव्यक्ति न होने दी, उलटे आत्महनन किया। पर हाय, अब क्या हो सकता है? मेरा अपहृत, विक्षत, 'स्व' ही तो अकेलेपन के रूप में अनुभूत हो रहा है और मेरी बेबसी और किंकर्तव्यविमूढ़ता ही मेरे भीतर-बाहर का अन्धकार है। मनुष्य अपनी छाया से भले ही पृथक् हो सके, पर इन स्मृतियों को क्या करूँ? इनसे कहाँ बच सकता हूँ? यही तो मेरा सर्वस्व, मेरा 'स्व' मेरी आत्मा हो रही है। अपने आपसे कैसे अलग हूँ? आह !

थोड़ी देर के लिए उसे फिर तन्द्रा आ गई, पर क्षणभर में चली गई। वही असीम वेदना अब भी थी। उसमें आधि के भी

लक्षण थे, व्याधि के भी लक्षण थे। अवर्णनीय, सर्वव्यापी।

कहीं से उसके मानस में एक दूसरा स्रोत फूट पड़ा। वह सोचने लगा, क्या मेरे लिए अब कोई आशा नहीं है? जो शक्ति समूचे विश्व का संचालन करती है, उसे मैं नहीं पहचानता। उसके अस्तित्व से भी विमुख रहा, पर वह तो मुझे पहचानती होगी, मेरी ओर से विमुख न होगी। हो भी कैसे सकती है ! मुझे भले ही दण्ड दिया जाए, पर एक अवसर तो और दिया जाए। एक बार तो अपने 'स्व' के बिखरे हुए टुकड़ों को फिर जोड़ सकूँ। मेरी स्मृतियों ने मुझे जो कुछ सिखाया है, उससे लाभ उठाने का एक अवसर चाहता हूँ, बस एक।

और फिर उसको ऐसा लगा कि वह अब पूर्णतया अकेला नहीं है। किसी मधुर और शीतल स्पर्श की लहरियों में गेंद की भांति खेल रहा है। स्मृतियों का बोझ यकायक हल्का हो गया। पीड़ा न जाने कहाँ समा गई और सहसा अन्धकार को चीरकर झीने प्रकाश की किरणों ने भीतर-बाहर उजाला फैला दिया।

मृत्यु उसके लिए कोई नई बात नहीं थी। कई बार मर चुका था और अर्थतः कई बार जन्म ले चुका था, परन्तु किसी शरीर में पहले के शरीरों की याद नहीं रहती थी। इसलिए प्रत्येक जन्म नया जन्म था, प्रत्येक मृत्यु नई मृत्यु थी। वह कितने शरीरों में घूम चुका था, यह कौन बता सकता है? कभी वनस्पति के रूप में आँधियों से टक्कर ली थी, कभी फूल बनकर अपनी मादक गन्ध से वन-देवता की पूजा की थी, कभी भ्रमर बनकर कमल की पंखड़ियों पर गुँजार किया था; कभी जल-क्रीड़ा का आनन्द लिया था, कभी अपने नयनाभिराम नृत्य से मयूरियों के हृदय को मुग्ध किया था और कभी वनस्थली का स्वच्छन्द नागरिक

बना था; कभी शिकार रहा, कभी शिकारी। नियति ने जो कराया, वह किया। अपना कोई दायित्व नहीं। मृत्यु होती थी, उसके बाद तन्द्रा-सी आती थी, परिताप की कोई सामग्री होती न थी। फिर कुछ दिन के उपरान्त नया शरीर, नया धन्धा।

फिर वह मनुष्य के रूप में आया। नए शरीर के साथ नए प्रकार की इच्छाओं का उदय हुआ, उनकी पूर्ति के नए साधन मिले, नई शक्तियाँ प्राप्त हुईं। नियति का अब वैसा आधिपत्य न रहा, अपने ऊपर विश्वास बढ़ा। दूसरों के सुख-दुःख का ज्ञान हुआ, अपने संकल्प के अनुसार काम होने लगा, दायित्व की भावना जागी और अब मृत्यु भी पहले जैसी मृत्यु न रही। उसकी अवश्यम्भाविता का निश्चय था, उसकी कुछ हद तक प्रतीक्षा की जा सकती थी। दूसरों को देखकर उसके सम्बन्ध में कुछ अटकल लगाए जा सकते थे। उसके बाद क्या होगा, इस विषय में कुतूहल, जिज्ञासा और आशंका होती थी, और जब मृत्यु होती थी तो स्मृतियाँ सामने आती थीं, परिताप और पश्चात्ताप में जलना पड़ता था। जितना ही प्रयत्न करके जीवनकाल में अपने 'स्व' का विस्तार किया जाता था, उतना ही मृत्यु के उपरान्त उसकी असहायता का तीव्र अनुभव होता था।

हाँ, तो इस बार जब उसकी स्मृतियों का बोझ असह्यता की पराकाष्ठा तक पहुँच गया और उसकी दयनीयता चरम सीमा को छू रही थी, उसके विचारों ने नया मोड़ लिया, और इसका परिणाम तत्काल दीख पड़ा। चित्त हल्का हुआ, वेदना दूर हुई, अकेलेपन की जगह यह अनुभव होने लगा कि कोई अदृश्य सत्ता समवेदना से सिंचित कर रही है। न जाने कितने काल के बाद प्रसुप्त निद्रा-वृत्ति जागी। वह सो गया।

काल पाकर उसको नया मनुष्य-शरीर मिला। शरीर के सहज धर्मों का पालन नियति के विधान के अनुसार था। परन्तु फिर भी इस बार कुछ नवीनता थी। पुरानी स्मृतियाँ तो विलीन हो गई थीं, परन्तु जन्म के पूर्व जो विचार उठे थे, वे अपना संस्कार तो छोड़ ही गए थे। अब उसके जीवन में उदार भावों को स्थान मिलता था। स्वार्थ-भावना चली नहीं गई थी, परन्तु परार्थ भावना उससे संघर्ष करती थी, कभी-कभी जीत भी जाती थी। यदि स्वार्थ का मोह विजय प्राप्त कर भी लेता था तो पराजित लोकसंग्रह-भावना दूसरे संग्राम के लिए अधिक शक्तिशाली प्रतीत होती थी। इस प्रकार उसके 'स्व' में 'पर' का धीरे-धीरे प्रवेश हो चला। इससे 'स्व' की वृद्धि भी हुई।

उसने कई शरीर धारण किए, कई शरीर छोड़े। प्रत्येक शरीर में उसका चरित्र पहले से उदात्त होता गया। गिरता था, पर उठता था और पहले से ऊँचा उठता था। प्रत्येक पतन पावनता का साधन बन गया।

मृत्यु के उपरान्त स्मृतियों का वैसा बोझ भी नहीं रह गया था। परिताप और पश्चात्ताप की मात्रा कम होती थी, आशा और प्रतीक्षा की अधिक।

धर्म और अध्यात्म के प्रति अविश्वास के दिन चले गए थे। उनकी जगह श्रद्धा ने ली थी। अब वह स्वाध्याय करता था, मनन करता था, उपासना करता था। साधारण पूजा-पाठ से श्रीगणेश हुआ, तीर्थाटन किया, साधु-महात्माओं के सत्संग में बैठने लगा। परमार्थ के व्यवसायियों से भेंट हुई, उनके दम्भ से ठगा भी गया, परन्तु उसकी सत्यनिष्ठा उसे बचा लाई। तत्त्वज्ञ उपदेष्टा मिले। उनसे दीक्षा पाकर अन्तर्मुख होने की

कुँजी मिली। अब उसके लिए मृत्यु घबराहट की वस्तु नहीं रह गई थी। वह जान सकता था कि नया शरीर कैसा होगा। नए शरीर का चयन केवल नियति का खेल नहीं था, उसकी अपनी इच्छा भी एक आनुषंगिक कारण होती थी।

उसने देव-लोक भी देखा। वहाँ के सुख का आस्वादन किया, आजानदेवों निःसीमप्राय अधिकारों का अनुशीलन किया। जीवों के कल्याण-साधन के लिए उनकी अविरत चेष्टा के सामने सिर झुकाना ही पड़ता था। तप की कैसी महत्ता है !

उसका तपोमय जीवन दूसरों के लिए आदर्श था। वह स्वयं सफल योगी था, समाधि की ऊँची भूमिकाओं में उसकी गति थी, सिद्धियाँ उसके पैर चूमती थीं। वह अब ऐसी जगह खड़ा था, जहाँ उसके लिए देवत्व भी हस्तामलक जैसा था। विश्व में सभी कुछ संकल्प-मात्र से प्राप्त हो सकता था। मनुष्यों को अनेक प्रकार के लाभ पहुँचा सकता था। उनको धर्म की ओर भी प्रवृत्त कर सकता था।

आखिर उसके अनेक जन्मों की तपस्या, उसके स्वाध्याय और मनन, उसकी योग-साधना के पुष्पित होने के दिन भी आए। उसके चेतनाकाश को वितृष्णा की उषा ने आभास्वर किया और फिर ज्ञान का अरुणोदय फूटा। फलतः अब तक की विचार-धारा की दिशा ही बदल गई। उसको ऐसा प्रतीत हुआ कि जिसको वह अबतक परम लक्ष्य समझे हुआ था, वह लक्ष्य का 'अधःस्वस्तिक'[1] था, जिसे वह आनन्द मान रहा था, वह वस्तुतः आनन्द का कल्पित आभास था। पुण्य और लोकसंग्रह के प्रलोभन में वह

---

१ आकाश के सबसे ऊँचे विन्दु को ऊर्ध्वस्वस्तिक और उससे उल्टे सबसे नीचे विन्दु को अधःस्वस्तिक कहते हैं।

मरीचिका के पीछे दौड़ रहा था और इस यात्रा का कभी अन्त नहीं होनेवाला था। अकेले उसकी ही यह दशा नहीं थी। कीट-पतंग से लेकर बड़े-से-बड़े देव तक, सब इसी जाल में फँसे हुए थे। बेड़ी लोहे की हो या सोने की, है तो बेड़ी ही। इस दृष्टि से ब्रह्मा से लेकर चींटी तक, सबकी अवस्था एक जैसी है।

मनुष्य की बात जाने दी जाए, देवगण जीवों के हित-साधन में निरन्तर लगे रहते हैं। दूसरों को ऊपर उठाना उनका चरम ध्येय रहता है। परन्तु कोई किसी को अपने से ऊपर नहीं उठा सकता। और फिर, वे इस परार्थ साधन की शक्ति से विरहित होना तो पसन्द ही नहीं करते। उनकी अमर संज्ञा है, पर यह अमरता तो सापेक्ष है। एक दिन उनकी तपोजनित शक्ति का भी क्षय होता ही है।

सहायता करनेवाला अपने कृपाभाजन के निकट आता है, इस निकट आने से दोनों में एक प्रकार का तादात्म्य हो जाता है, 'स्व' का विस्तार होता है। परन्तु यह अनुभूति क्षणिक होती है। इस अनुभूति के लिए यह आवश्यक है कि एक कृपा करनेवाला हो, दूसरा कृपा-पात्र हो। परार्थ साधन होना द्वैत की सत्ता पर ही निर्भर है। यदि द्वैत भावना न हो, यदि ऐसे सत्व न हों, जिन पर उपकार किया जा सके, तो देवों का जीवन भी सारहीन प्रतीत होने लगे, उनको अपने में ही खोखलापन जान पड़े। महत्ता अल्पता के सहारे जीती है और जो बात देवों के लिए कही जा सकती है, वही इतर जीवों के लिए भी सत्य है। इस संसार की आधारशिला द्वैतबुद्धि है।

और इस आधारशिला का आधार क्या है? कुछ भी नहीं। द्वैतमूलक यह दृश्यमान संसार उतना ही सत्य और उतना ही

असत्य है, जितना कि रज्जु में प्रतीयमान सर्प। दोनों का बीज अविद्या है। जब तक अविद्या है, तब तक मैं-पर की द्वैत बुद्धि रहेगी, रागद्वेष रहेगा, अपने पृथक् अस्तित्व की अखण्डता के लिए अभिनिवेश रहेगा, कुछ-न-कुछ वासना रहेगी, संसार रहेगा। तर्क द्वैत का खण्डन करता है, निरुद्ध चित्त में उसका क्षय हो जाता है। जब थोड़ी देर के लिए एक 'स्व' दूसरे में तदात्म हो जाता है तो भी द्वैत का तिरोधान हो जाता है। परन्तु विडम्बना यह है कि परमोच्च गति प्राप्त करके भी द्वैत से ऊपर उठने का प्रयत्न बहुधा नहीं किया जाता, द्वैत-भावना हठात् स्थिर रखी जाती है, और कुछ नहीं तो जीव और ईश्वर के कल्पित भेद को दृढ़ करके, इस आसुर-बुद्धि को अक्षत रखा जाता है और इस प्रकार अपने 'स्व' को उसके वास्तविक रूप से ओझल रखकर आत्मा का हनन किया जाता है और अविद्या अपनी इस विजय पर हँसती है।

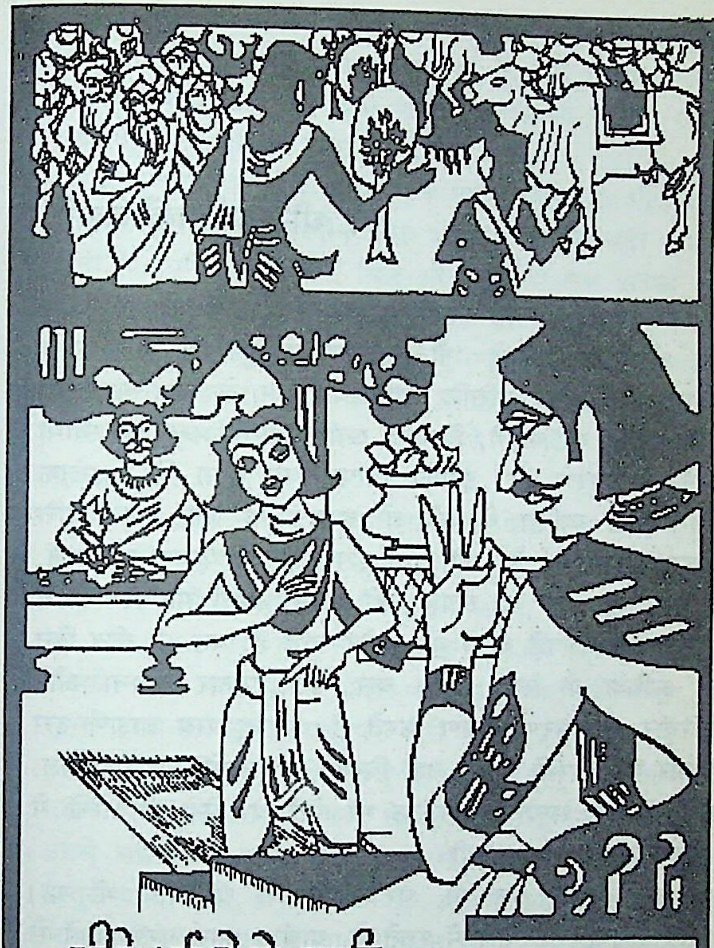
यह सोचते हुए उसके मुँह से निकल पड़ा :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता:।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंति, ये के चात्महनो जना:॥[१]

---

१ यह यजुर्वेदीय ईशोपनिषद् का तीसरा मंत्र है। शांकर भाष्य के अनुसार इसका अर्थ है :

अद्वय भाव की अपेक्षा से देवादि भी असुर हैं और उनके लोक भी असुर्य हैं। वे आत्मा के अदर्शन रूपी अविद्या के घोर अन्धकार से आवृत्त हैं। मरकर उन लोगों को, जो आत्मा का हनन करते हैं, अर्थात् जो विद्याविहीन हैं और विद्यमान आत्मा का तिरस्कार करते हैं, वे लोक प्राप्त करते हैं। ऐसे लोग अपने कर्मों के अनुसार एक से दूसरे आसुर-लोक में संसरण करते रहते हैं।



...धीरे हर्षशोको जहाति ...

७ ...धीरो हर्षशोकौ जहाति

उद्दालक का जन्म बड़े प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में हुआ था। घर पर तो लोग उनको 'गौतम' कहकर पुकारते थे, परन्तु समाज में उनकी प्रसिद्धि बाजश्रवा नाम से थी। बाजश्रवा उस व्यक्ति को कहेंगे, जिसकी ख्याति बहुत अन्न का स्वामी होने के कारण हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उद्दालक बहुत धनी व्यक्ति थे, यों तो ब्राह्मण के लिए उच्छ वृत्ति प्रशस्त मानी गई है। जो लोग इस वृत्ति को ग्रहण करते हैं, वे धन या अन्न का संग्रह नहीं करते, खेतों या बाजारों में अन्न के गिरे-पड़े कणों को बटोर लाते हैं, वह भी तीन दिन से अधिक के लिए नहीं। बस, इसी प्रकार अपना और परिवार का भरण-पोषण करते हैं। परन्तु सब ब्राह्मण इस प्रकार का तपस्वी जीवन नहीं बिताते थे। उनमें कुछ महाशाल, बड़े गृहस्थ, सम्पन्न नागरिक भी होते थे। ऐसे ही लोगों में उद्दालक की गणना थी।

उनके पास धन था, पर विद्या भी थी, तप भी था। ऋषि-समुदाय के बीच में रहते थे, प्राचीन आर्य परम्पराओं से जीवन ओत-प्रोत था। काल पाकर उनमें वैराग्य जागा। चित्त में यह विचार उठा कि यह सब धन लेकर क्या होगा। इसका

उपयोग तो यही है कि जो दीन और दुखी हैं, उनमें बाँट दिया जाए। उन्होंने सर्वजित यज्ञ करने का निश्चय किया, जिसमें अपना सर्वस्व दान कर दिया जाता है। दक्षिणा में दस सहस्र गऊ देने का संकल्प किया।

आज से चार-पाँच सहस्र वर्ष पहले सम्भवतः गौएँ कुछ अधिक सुलभ रही होंगी। फिर भी दस हजार बड़ी संख्या होती है। यदि इतनी गौएँ मिल भी जाएँ तो सब अच्छी हों, यह बहुत कठिन होगा। उद्दालक को जो गौएँ मिलीं, उनमें बहुत-सी 'जग्धतृणा, पीतोदका, दुग्धदुहा और अनिन्द्रिया' थीं, अर्थात् इतनी बूढ़ी थीं कि उनके तृण खाने के, जल पीने के, दूध देने के और बच्चे देने के दिन कब के जा चुके थे !

ये सब बातें उनका लड़का नचिकेता देख रहा था। था तो वह अभी लड़का ही, परन्तु उसकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसके चित्त में धर्मबुद्धि जागी। उसने सोचा, पिताजी ने गौओं की संख्या तो पूरी कर ली, पर इन गौओं को दान करके उनको भला क्या पुण्य होगा? वह इस बात को पिता के सामने रखना चाहता था, पर कैसे कहे? बड़ों को धर्म का उपदेश कैसे दिया जाए? परन्तु समय जा रहा था। अन्त में उसने पिता को अप्रत्यक्ष रूप से संकेत करना उचित समझा। उनसे नम्रता से पूछा, "इस यज्ञ में तो अपनी बहुत प्यारी वस्तुएँ दान में दी जाती हैं। मैं तो आपका प्यारा पुत्र हूँ। मुझे किसको देंगे?" पिता ने या तो प्रश्न सुना नहीं या लड़के की नासमझी मानकर चुप रह गए। थोड़ी देर प्रतीक्षा करके नचिकेता ने फिर वही प्रश्न पूछा। पिता फिर भी उसकी बात

अनसुनी कर गए। तीसरी बार फिर वही प्रश्न पूछा गया। उद्दालक को क्रोध आ गया। वह झल्लाकर बोल उठे, "जा, तुझे यम को देता हूँ।"

उनके मुँह से शब्द निकले तो क्रोध में, परन्तु थे बहुत तपस्वी ब्राह्मण। उनकी वाणी में क्रियाफलाश्रयित्व था, अर्थात् मुँह से जो बात निकल जाए, वह होकर रहती थी। इधर वह चुप हुए, उधर नचिकेता यम के द्वार पर सदेह पहुँच गया। इस बात से उद्दालक को जो मार्मिक कष्ट हुआ होगा, उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है, पर अब वह कर भी क्या सकते थे ! छूटा हुआ तीर लौटाया नहीं जा सकता।

जिस समय नचिकेता वहाँ पहुँचा, धर्मराज घर पर न थे। साधारणतः उनके होने-न-होने से वहाँ के काम में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। उनके सहायक चित्रगुप्त आदि सारा काम सम्भाल लेते थे, परन्तु जो व्यक्ति मरे बिना ही सदेह पहुँच जाए, उसका क्या किया जाए, स्यात् किसी की समझ में नहीं आया। किसी ने उसका कोई सत्कार नहीं किया। तीन दिन बाद यम लौटे। नचिकेता का वृत्त जानकर बहुत दुखी हुए। मैं गृहस्थ हूँ, मेरे द्वार पर ब्राह्मण-कुमार तीन दिन तक अन्न-जल के बिना रह गया, यह तो मेरे लिए लज्जा की बात है और फिर पाप भी है। इसका एक ही प्रायश्चित्त हो सकता है। उन्होंने नचिकेता से कहा, "तुम मुझसे तीन वर माँग लो।"

नचिकेता ने जो पहला वर माँगा, वह सर्वथा स्वाभाविक और बालोचित था। उसने कहा कि मेरे पिता का क्रोध शान्त

हो जाए और मेरे लौटने पर वह मुझसे फिर पूर्ववत् स्नेह करने लगें। इसके लिए 'तथास्तु' कहने में यम को कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने अविलम्ब मान लिया।

नचिकेता ऋषियों के बीच में पला था। उनकी बातें सुनता रहता था। उसका दूसरा वर उस मनोवृत्ति का परिचय दे रहा था, जो उसमें इस प्रकार के सत्संग से उत्पन्न हुई थी। उसने कहा, "मुझे कोई ऐसा यज्ञ बतलाइए, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो, परन्तु यज्ञ ऐसा होना चाहिए, जिसे अब तक कोई न जानता हो।" यम ने बालक की यह बात भी मान ली। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रसन्न होकर यह भी आशीर्वाद दिया कि इस यज्ञ को तुम्हारे नाम पर 'नचिकेताग्नि' कहा करेंगे। उन्होंने उसका पूरा ब्यौरा नचिकेता को समझा दिया, "नचिकेता, इस अग्नि के द्वारा अनन्त लोक की प्राप्ति होती है। जो इसका अनुष्ठान करेगा वह मृत्यु के पाश को तोड़कर और शोक के पार जाकर स्वर्गलोक में आनन्द करेगा।"

नचिकेता ने पहला वर अपने लिए माँगा था और यह दूसरा वर उन लोगों के हित के लिए जो धर्म-मार्ग का अनुसरण करके परलोक में उत्तम गति को प्राप्त करना चाहते हैं।

उसका अन्तिम वर गूढ़ और गम्भीर था। उसने यम से आत्मा के विषय में जानना चाहा। आत्मा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? वह कहाँ से आता है? कहाँ जाता है? यम ने पहले तो टालना चाहा। उन्होंने कहा, यह विषय दुर्बोध है, देवगण भी इसको ठीक-ठीक नहीं समझ पाते, तुम कोई और वर माँगो। परन्तु नचिकेता दृढ़प्रतिज्ञ था। उसने कहा, जो

विषय इतना दुर्बोध है कि देवगण को भी उसके सम्बन्ध में विचिकित्सा होती है, उसको समझानेवाला आप जैसा मुझे कहाँ मिलेगा? यदि मैं इस अवसर को हाथ से खो दूँ तो फिर सदा के लिए अज्ञान ही रह जाऊँगा। यम ने टालने की दूसरी युक्ति निकाली। भांति-भांति के प्रलोभन दिए। एक कल्प की आयु, सुन्दर स्वस्थ शरीर, सुन्दर स्त्रियाँ, विपुल धन और ऐश्वर्य, दिव्य संगीत आदि सभी कुछ देने का वचन दिया, पर नचिकेता टस-से-मस न हुआ। उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए। ये सारी वस्तुएँ क्षणिक और अस्थायी हैं, इनसे मनुष्य की परातुष्टि नहीं हो सकती। मैंने आपसे जो गूढ़ और गोप्य वर माँगा है—'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते'—उससे भिन्न कोई दूसरा वर नचिकेता नहीं माँगता।

विद्या कितनी भी गूढ़ और कठिन हो, परन्तु अधिकारी शिष्य मिलने पर गुरु उसको सहर्ष प्रदान करता है। अनधिकारी को देने से विद्या की दुर्दशा होती है, परन्तु योग्य व्यक्ति के पास पहुँचकर वह वीर्यवती होती है। यम ने परीक्षा ले ली। उन्होंने नचिकेता को शिष्य बनाने के योग्य पाया। उसमें वह तपोवृत्ति, वह दृढ़ संकल्प और वह विवेकबुद्धि थी, जिससे वह इस विद्या को ग्रहण कर सकेगा, ऐसी आशा होती है। यम ने उसको शिष्यत्व में स्वीकार करते हुए कहा :

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैवप्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥

सत्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामा नामिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये, न त्वा कामा बहवोऽलोलुमन्त।।[१]

श्रेय (आत्मा के लिए कल्याणकारी) और प्रेय (प्रिय लगनेवाला) एक-दूसरे से भिन्न हैं और यह मनुष्य को भिन्न दिशाओं में ले जाते हैं। श्रेय को ग्रहण करनेवाले का भला होता है। जो प्रेय का वरण करता है, वह परमार्थ को खो देता है।

तू प्रिय रूपी और प्रिय वस्तुओं को चित्त में नहीं लाया, वरन् उनका परित्याग कर दिया।

तुझको प्रिय पदार्थों ने लोभ में नहीं डाला, इसलिए हे नचिकेता, मैं तुझे विद्या की इच्छा रखनेवाला, सच्चा जिज्ञासु, मानता हूँ।

यम ने नचिकेता को फिर भी सावधान करना उचित समझा। जिस मार्ग पर चलना है, वह बहुत ही कठिन है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन

यह आत्मा न किसी के प्रवचन से प्राप्त होता है, न तीक्ष्य बुद्धि की पकड़ में आता है, न बहुत-से शास्त्रों को देखने से जाना जाता है।

तब फिर उसके जानने का क्या उपाय है? यम ने इस बात को थोड़े शब्दों में यों इंगित किया :

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं, गुहाहितं गहरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।[२]

---

१ कठोपनिषद्

२ कठोपनिषद्

उस दुर्दर्श गूढ़, अगाध गहराई में प्रविष्ट, हृदय की गुफा में स्थित, सनातन, प्रकाशस्वरूप, आत्मा को अध्यात्म योग के द्वारा पहचानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक का परित्याग करता है।

यह अध्यात्म योग ही वह राजमार्ग है, जो जिज्ञासु को आत्म-साक्षात्कार तक ले जाता है। इस यात्रा का पहला भाग वह है, जिसे आजकल यम और नियम कहा जाता है। यम के शब्द ये हैं :

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥[1]

जो दुश्चरित से विरत नहीं है, जो अपनी इन्द्रियों के वशीभूत है, जिसका चित्त विषयों के पीछे दौड़ता रहता है, वह उस प्रज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता, जिसके द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है।

वैराग्य और यमनियमादि से सम्पन्न करके यम ने नचिकेता को **'योगविधिं च कृत्स्नं'**–(सम्पूर्ण योगविधि की) शिक्षा दी। चित्त को एकाग्र करने के लिए धारण का अभ्यास करना होता है और धारण के लिए सहारा चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह उपदेश दिया :

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्॥

---

१ कठोपनिषद्

एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते।।[1]

सारे वेद जिस पद की व्याख्या करते हैं, जिसका वर्णन सभी तपस्वी करते हैं, जिसकी इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ : वह पद 'ऊँ' है।

निश्चय ही यह अक्षर ब्रह्म है, यह अक्षर सबसे ऊँचा है। इस अक्षर को जानकर मनुष्य जो इच्छा करता है, वह पूरी होती है।

यह आलम्बन (सहारा) श्रेष्ठ है, यह आलम्बन सबसे ऊँचा है, इस आलम्बन को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।

योगाभ्यास किसी भी अवस्था में सरल काम नहीं होता। मतवाले हाथी को अंकुश में रखना सुकर है, परन्तु चित्त को क्षणभर के लिए भी निश्चल रखना बड़ा कठिन काम है। इस पथ पर चलना **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'** अर्थात् छुरे की तीखी धार पर चलने के समान है। और फिर दोनों ओर गहरी खाई है। एक ओर तो प्रमाद के कारण असफलता का डर है, दूसरी ओर थोड़ी-सी सफलता पर अभिमान की भावना के जागने की आशंका है। अभिमान भी घातक होता है। यह नचिकेता का सौभाग्य था कि उसको यम जैसा समर्थ गुरु मिला था। गुरु के सहारे के बिना यह पथ दुर्गम है।

पतन का एक और भी भय है। योग की नीचे की भूमियों

---

१ कठोपनिषद्

में भी इन्द्रियों की शक्ति, जो साधारण अवस्था में अवरुद्ध रहती है, उन्मुक्त हो जाती है। जगत् का सच्चा स्वरूप सामने आने लगता है और प्रकृति के रहस्यों पर से पर्दा हटने लगता है। ज्ञान के साथ सामर्थ्य में भी वृद्धि होती है और इस सामर्थ्य से काम लेने की प्रवृत्ति भी जागती है। और कुछ नहीं तो लोकहित के लिए ही सही, अपनी नव प्राप्त विभूतियों का उपयोग करने की इच्छा होती है। परन्तु ऐसा करना आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाधक होता है। गुरु का सहारा ही इन अवस्थाओं में गिरने से शिष्य को बचाता है।

पर जहाँ यह मार्ग कंटकाकीर्ण है, वहाँ इसमें पदे-पदे आनन्द भी है। विश्व का उत्तरोत्तर वर्धनशील ज्ञान स्वयं आनन्ददायक है। ऐसे अनुभव होते हैं, जो अभ्यासी को इस बात का विश्वास दिलाते चलते हैं कि वह ठीक पथ पर चल रहा है।

> नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योत विद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
> एतानि रूपाणि पुरःसराणि, ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।
> पृथव्यप्ततेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
> न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।
> लघुत्वमारोग्यमतोलुपत्वं, वर्णप्रसादंस्वरसौष्ठवं च।
> गन्धः शुभोमूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।[1]

योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत, स्फटिकमणि और चन्द्रमा का

---

१ श्वेताश्वतर उपनिषद्

अनुभव होता है। ये सब रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश के समुत्थित होने पर अर्थात् पंच-महाभूत के क्रमशः अनुभव होने पर, अभ्यासी को योगाग्निमय शरीर प्राप्त होता है। न उसको रोग होता है, न बुढ़ापा, और मृत्यु वश में हो जाती है।

शरीर में हल्कापन आता है, आरोग्य की अवस्था रहती है, विषयों की ओर से वितृष्णा हो जाती है। शरीर कान्तिमान हो जाता है, स्वर में माधुर्य आ जाता है और देह से सुगन्ध निकलती है, मूत्र और पुरीष की मात्रा कम हो जाती है। यह योग की पहली सिद्धि है।

ये कुहरा, जुगनू, तारा आदि उपलक्षण मात्र हैं। ज्यों-ज्यों अभ्यास में प्रौढ़ता आती है, त्यों-त्यों इस जगत् के नानात्व का, इसके असंख्य गन्धों, रसों, रूपों, शब्दों का अनुभव होने लगता है और इसके रहस्य समझ में आने लगते हैं। ये सब अनुभूतियाँ नीचे की हैं। ऊपर तो **''न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।''** अर्थात् न वहाँ सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा, न तारे, न यह बिजलियाँ, न यह अग्नि।

योगाभ्यास के साथ-साथ श्रवण और मनन का क्रम भी चलता रहा। सच्छास्त्रों का अध्ययन और गुरुजन का सत्संग, श्रवण है और इस प्रकार उपलब्ध तत्त्वों पर गम्भीर विचार मनन कहलाता है। इस प्रकार बहुत-सी शंकाओं का अच्छेदन हो जाता है।

नचिकेता को यम से जो उपदेश मिला करता था, उसका यहाँ विस्तृत वर्णन तो नहीं हो सकता, संक्षेप में कुछ कहा जा सकता है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं, मत्वा धीरो न शोचति।।
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।।
मन सैवेदमप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति।।
नित्यो नित्यानां, चेतनश्चेतनानां-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।
इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।[1]

जो शरीरों में अशरीरी है, अस्थिरों में स्थिर है, सबसे बड़ा अर्थात् सर्वव्यापी और सार्वकालिक है, ऐसी आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोच से मुक्त हो जाता है।

वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से परे है, अव्यय अर्थात् एकरस है, अनादि और अनन्त है, बुद्धि से अग्राह्य है, अपरिवर्तनशील है, उसको जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है, यही केवल अनुभवगम्य है, कहीं भी नानात्व नहीं है, वह एक और अद्वय है। जिसको नानात्व की प्रतीति होती है, वह बार-बार जन्म लेता और मरता है।

जो अनित्यों में नित्य है, जो चेतनों में चेतना है, जो नानात्व के भीतर एक है, जो चित्त की वृत्तियों का कारण है, आत्मा में स्थित उस तत्त्व का जो धीर पुरुष साक्षात्कार करते

---
१ कठोपनिषद्

हैं, उनको ही शाश्वत शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।

शरीर छूटने के पहले उसको जान सके तो कल्याण होगा, अन्यथा बार-बार नाना शरीरों में जन्म लेना होगा।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन—सत्संग, विचार और योगाभ्यास—का परिणाम अवश्यम्भावी होता है। चित्त के कषाय दूर हो जाते हैं, समाधि की सर्वोच्च भूमि, निर्विकल्प समाधि में प्रवेश होता है और विद्या का पूर्ण प्रसाद प्राप्त होता है। पहले नानात्व सिमटकर दृश्य रूप से परमात्मा, अपरब्रह्म, अवशिष्ट रहता है और द्रष्टा में झीनी अस्मिता मात्र (अस्मि—मैं हूँ, प्रतीति की सतत धारा) रह जाती है और फिर शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, उससे अभेद की प्रतीति होती है, अपने स्वरूप में स्थिति होती है। अभेदभावना को **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहकर व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु वस्तुतः वह ज्ञान **'अवङ्मनसअगोचर'**—इन्द्रिय, वाणी और बुद्धि के बाहर है। उस परम पद तक पहुँचते-पहुँचते सारी शंकाएँ स्वतः दूर हो जाती हैं, विद्या के प्रकाश में अज्ञान और भ्रान्ति की तमिस्रा आप-से-आप नष्ट हो जाती है।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

उस परावर, उस ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर, हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशयों का छेदन हो जाता है और सब कर्मों का क्षय हो जाता है। कर्मों के क्षय होने से पुनर्जन्म और पुनर्मरण का प्रश्न ही नहीं उठता। न उसके लिए कोई विधि-निषेध का बन्धन रह जाता है, न करणीय-अकरणीय

की रोक-टोक। ऐसे व्यक्ति की अवस्था निरन्तर धर्मामेघ समाधि की रहती है। जिस प्रकार बादल से निसर्गतः जल बरसता है, उसी प्रकार उससे निसर्गतः धर्म की वृष्टि होती रहती है। यह अवस्था प्रत्येक ऐसे जिज्ञासु की–**'अन्योपि य एवं वेद'**–होगी, जो सद्गुरु के चरणों में बैठकर अध्यात्म योग के मार्ग पर चलेगा। उस पद को प्राप्त करके जो आनन्द और ज्ञानमय स्थिति होती है, उसका कुछ अभिव्यंजन इन शब्दों से होता है :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।।
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिम्परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा।।[1]

मैं उस महान् पुरुप को जानता हूँ, जो आदित्यवर्ण है और तम के पार रहता है। उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है, मोक्ष के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यहाँ आत्मा को महान् इसलिए कहा गया है कि वह दिक और काल के सभी अवच्छेदों से परे है तथा सभी विशेषणों से अनवच्छिन्न है। इसलिए उसके लिए नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं) कहा जाता है। तम से तात्पर्य अविद्या से है। इसलिए आत्मा को आदित्यवर्ण कहा है। उसका कोई रूप और रंग नहीं है, वह ज्ञान के प्रकाश से युक्त है। उसको जान लेने पर जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है। आत्मा और ब्रह्म अभेद के कारण यह वाक्य ब्रह्मपरक भी हैं

---
१ यजुर्वेद–३१, १८, १६

और आत्मपरक भी।

प्रजापति गर्भ में आता है। अजन्मा होकर भी बहुधा जन्म लेता है। उसकी योनि को, जिसमें सब भुवन निश्चय ही स्थित हैं, धीर लोग सम्यक रूप से देखते हैं।

इस मंत्र के पूर्वार्द्ध में अपर ब्रह्म और उत्तरार्द्ध में परब्रह्म की ओर संकेत है। परमात्मा ही प्रजापति है। महाप्रलय के बाद जब जीवों के प्रसुप्त संस्कार फिर उद्‌बुद्ध होते हैं तो परमात्मा क्षुब्ध होता है। उसमें **'एकोऽहं बहुस्याम'** (मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ) यह भाव उत्पन्न होता है। पहले भावी जगत् उसमें विचार रूप से उदय होता है, फिर वह विचार नाना रूपों में मूर्त होता है। समस्त जड़-चेतन का मूल और आगार होने से परमात्मा को प्रजापति कहते हैं। वह वस्तुतः अजर, अमर, अक्षर है, परन्तु अज्ञान से आच्छादित बुद्धि में वह अनेक दीख पड़ता है और देव, असुर, मानव, तिर्यक, वनस्पति, पर्वत आदि अनेक शरीरों में दीख पड़ता है; जन्म लेता, बनता, बिगड़ता, मरता प्रतीत होता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे कि जल की चपल लहरियों में आकाश का एक चन्द्रमा नाना चंचल छोटे-बड़े चन्द्रों के रूप में दीख पड़ता है। देखनेवाले का अज्ञान ब्रह्म को भी माया से उपहित, माया उपाधियुक्त, देखता है। इस अपर ब्रह्म के उपाधि-युक्त होने से इसको अपर (नीचे का) कहा जाता है। इसकी योनि अर्थात् मूल शुद्ध ब्रह्म है, जिसको धीर पुरुष अध्यात्म योग का पारंगत अभ्यासी देखते हैं अर्थात् उसका साक्षात्कार करते हैं, उससे अभेद का अनुभव करते हैं। उसी में सब भुवन और उनके निवासी स्थित हैं, वही सबका आधार है।

यह प्रतीयतान जगत् मिथ्या है, परन्तु इसका आधार ब्रह्म सत्य है। यदि रस्सी में अन्धकार में सर्प की प्रतीति होती है तो वह प्रतीत होनेवाला सर्प तो मिथ्या है। प्रकाश आने पर उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाएगा, सर्प मिट जाएगा, परन्तु उसका आधार रस्सी तो रहेगी। इसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश में अविद्या के दूर होने पर जगत् का मिथ्यात्व जान लिया जाएगा, परन्तु उसका आधार ब्रह्म तो रहेगा, क्योंकि वह सत्य है। दूसरे लोग तर्क से कुछ अनुमान ही कर सकते हैं, परन्तु धीरों को प्रत्यक्ष, सम्यक्, ज्ञान होता है।

'मण्डल' द्वारा प्रकाशित

नीति-आचार-शिक्षा साहित्य

- रामकृष्ण उपनिषद्
- मंगल प्रभात
- बापू की सीख
- नवयुवकों से दो बातें
- सर्वोदय
- तुकाराम गाथासार
- सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास
- अमृत की बूंदें
- गांधीजी ने कहा था
- स्वराज्य का अर्थ
- विनोबा के विचार
- सूफी संत चरित
- आत्म रहस्य
- आत्म दर्शन
- धारण करो तो धर्म
- सुभाषित सप्तशती
- महाभारत के सूक्ति रत्न
- वेदमंत्रों के प्रकाश में

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 23310505, 41523565

ई-मेल : sastasahityamandal@bol.net.in

ISBN 978-81-7309-278-7

9 788173 092787

Rs. 45.00